कवि-रहस्य

कवि-रहस्य

अर्थात् प्राचीन समय में कवि-शिक्षा-प्रणाली

व्याख्यानदाता

महामहोपाध्याय गङ्गानाथ झा,

एम० ए०, डि० लिट्०

प्रकाशक

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, संयुक्त प्रान्त, प्रयाग।

१९२९

Published by
The Hindustani Academy, U.P.
Allahabad.

FIRST EDITION

Price, Rs. 1-4, or 3 Shillings

विषयसूची

उपोद्घात

गत वर्ष किसी विषय पर तीन व्याख्यान देने की आज्ञा मुझे 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' से मिली।

जब कभी मुझे हिन्दी में व्याख्यान देने की आज्ञा होती है तो मुझे बड़ा संकोच होता है। क्योंकि असल में हिन्दी मेरी मातृ-भाषा नहीं है। मेरी मातृ-भाषा वह मैथिली भाषा है जिसका दस बारह बरस पहले तक घृणा की दृष्टि से नाम रक्खा गया था 'छिकाछिकी'। पर जब से लोगों का कृपाकटाक्ष विद्यापति ठाकुर के काव्यों पर पड़ा है तब से मैथिली भी हिन्दी-परिवार के अन्तर्गत समझी जाती है। इतना होने पर भी यह बात नहीं भूलती कि चिरकाल से हिन्दी के अनभिज्ञों में सबसे ऊँचा स्थान बंगालियों का था, उसके बाद बिहारियों का, और फिर बिहारियों में भी मैथिल तो सबसे गये बीते थे। किन्तु भाग्यवश मेरे जीवन का अधिकांश काशी की ही छाया में बीता। इससे कभी कभी हिन्दी लिखने या बोलने का साहस हो भी जाता है। इसी कारण अभी कुछ दिन हुए पटना में मेरे व्याख्यान हिन्दी में हुए। तब से साहस और बढ़ा और अब हम वह हो चले हैं जिसे ठेठ मैथिली में 'थेथर' कहते हैं। अर्थात् 'एकां लज्जां परित्यज्य त्रैलोक्यविजयी भवेत्'।

भाषा के विषय में मैं अपराधी अवश्य हूँगा। क्योंकि जिस काशी के प्रसाद से मुझे हिन्दी से कुछ परिचय हुआ है उसी के प्रसाद से मेरी हिन्दी संस्कृतप्रचुरा हुई है। यद्यपि बहुत दिनों तक सरकारी 'खिचड़ी भाषा' के प्रादुर्भावचक्र में भी मैं पड़ा था पर उसका फल विपरीत ही हुआ। मेरा संस्कार दृढ़ होगया कि साहित्यक्षेत्र में

दोनों भाषायें, हिन्दी तथा उर्दू, एक कभी नहीं हो सकतीं। एक-भाषावादी मुझे क्षमा करें।

व्याख्यान का विषय मैंने 'कवि-रहस्य' रक्खा है। क्योंकि कविकृत्य, काव्य, एक ऐसा विषय है जिसके सम्बन्ध में जो कुछ चाहे आदमी कह सकता है। वेदान्तियों के 'ब्रह्म' की तरह 'अवाङ्मनसगोचर' होते हुए यह 'सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' भी है। पर काव्य के प्रसंग में इतना लिखा गया है कि मैंने कुछ नवीन विषय संग्रह करने का विचार किया। दो ग्रन्थ मुझे ऐसे मिल गये जिनके आधार पर मैं कुछ लिखने का साहस कर सका। एक राजशेखरकृत काव्यमीमांसा (जो समस्त रूप में एक विश्वकोष कहा जा सकता है पर जिसका अभी एक अंश-मात्र उपलब्ध हुआ है) और दूसरा क्षेमेन्द्रकृत कविकण्ठाभरण। दोनों ग्रन्थ हज़ार वरस से अधिक पुराने हैं। विषय तो मेरा होगा 'कवियों की शिक्षाप्रणाली', पर इसके सम्बन्ध में राजशेखर ने कई नई बातों का उल्लेख किया है, इनका विवरण भी कुछ करना ही होगा। कवियों के प्रसंग में यह कहा जाता है कि The Poet is born not made। यदि ऐसा है तो यह प्रश्न उठेगा कि यदि जन्मना कवि होते हैं तो फिर कवि की शिक्षा कैसी? पर हमारे देश का सिद्धान्त यह रहा है कि यद्यपि कविता का मूल कारण है प्रतिभा, और प्रतिभा पूर्व-जन्म-संस्कार-मूलक ही होती है, तथापि बिना कठिन शिक्षा के, केवल प्रतिभा के सहारे कवि सुकवि क्या कुकवि भी नहीं हो सकता। इसलिए कवित्व-सम्पादन के लिए शिक्षा आवश्यक है। और आगे चल कर यह स्पष्ट होगा कि कवि को वैसा ही 'Jack of all trades' होना पड़ेगा जैसा कि I. C. S. वालों को होना पड़ता है। भेद इतना ही है कि I. C. S. में option अनेक हैं पर कवि के लिए सभी Subject Compulsory हैं।

———

काव्यमीमांसा के अनुसार 'वाङ्मय' (Literature) दो प्रकार का होता है—(१) 'शास्त्र' तथा (२) 'काव्य'। विना 'शास्त्र'-ज्ञान के 'काव्य' नहीं बन सकता। इसलिए पहले शास्त्रों ही का ज्ञान सम्पादन करना आवश्यक है।

'शास्त्र' दो प्रकार का है—(१) 'पौरुषेय' तथा (२) 'अपौरुषेय'। अपौरुषेय 'शास्त्र' केवल 'श्रुति' है। मन्त्र और ब्राह्मण-रूप में श्रुति पाई जाती है। जिन वाक्यों में कर्त्तव्य कर्म के अंग सूचितमात्र हैं उन्हें 'मन्त्र' कहते हैं। मन्त्रों की स्तुति निन्दा तथा उपयोग जिन ग्रन्थों में पाया जाता है उन्हें 'ब्राह्मण' कहते हैं। ऋक्, यजुः, साम—ये तीन वेद 'त्रयी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। चौथा वेद 'अथर्व' है। जिन मन्त्रों में अर्थ के अनुसार पाद व्यवस्थित हों उन्हें 'ऋक्' मन्त्र कहते हैं। वे ही ऋक्-मन्त्र जब गान-सहित होते हैं तो 'साम' कहलाते हैं। जिन मन्त्रों में न छन्द है न गान वे 'यजुष्' मन्त्र कहलाते हैं। इतिहासवेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, आयुर्वेद ये चारों 'उपवेद' हैं। इनके अतिरिक्त एक 'गेयवेद' भी माना गया है जिसे द्रौहिणि ने 'वेदोपवेदात्मक सार्ववर्णिक' बतलाया है। अर्थात् चारों वेद तथा चारों उपवेदों का सारांश इसमें है और इसके पढ़ने-पढ़ाने में सभी जाति अधिकारी हैं।

(१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त, (५) छन्दोविचिति, (६) ज्योतिष, ये छः वेदाङ्ग हैं। इनके अतिरिक्त

'अलङ्कार' नाम का सातवाँ अंग भी माना गया है—क्योंकि इससे बड़ा उपकार होता है। इन अंगों के ज्ञान के बिना वेद के अर्थ का समझना असम्भव है। (१) वर्णों के उच्चारण-स्थान, करण, प्रयत्न इत्यादि के द्वारा जिस शास्त्र से उनके स्वरूप की निष्पत्ति होती है उस शास्त्र को 'शिक्षा' कहते हैं। इसके आदिप्रवर्तक हैं आपिशलि। (२) नाना वेदशाखाओं में पाये हुए मन्त्रों के विनियोग जिन सूत्रों से बतलाये जाते हैं उन्हें 'कल्प' कहते हैं। इसे 'यजुर्विद्या' भी कहते हैं। (३) शब्दों के 'अन्वाख्यान' अर्थात् विवरण को 'व्याकरण' कहते हैं। (४) शब्दों के 'निर्वचन' अर्थनिरूपण को 'निरुक्त' कहते हैं। (५) छन्दों का निरूपण जिस शास्त्र से होता है वह 'छन्दोविचिति' है। (६) ग्रहों के गणित का नाम है 'ज्योतिष'। 'अलंकार' किसे कहते हैं सो आगे बतलाया जायगा। ये हुए 'अपौरुषेय' शास्त्र।

'पौरुषेय' शास्त्र चार हैं, (१) पुराण, (२) आन्वीक्षिकी, (३) मीमांसा, (४) स्मृतितन्त्र। इनमें (१) पुराण उन ग्रन्थों का नाम है जिनमें वैदिक 'आख्यान' कथाओं का संग्रह है। पुराण का लक्षण यों है—

सर्गश्च प्रतिसंहारः कल्पो मन्वन्तराणि वंशविधिः।
जगतो यत्र निबद्धं तद् विज्ञेयम्पुराणमिति ॥

अर्थात् 'उसको पुराण समझना जिसमें सृष्टि, प्रलय, कल्प (युगादि), मन्वन्तर, राजाओं के वंश वर्णित हों'। इतिहास भी पुराण के अन्तर्गत है—ऐसा कुछ लोगों का सिद्धान्त है। इतिहास के दो प्रभेद हैं—'परिक्रिया', 'पुराकल्प'। इन दोनों का भेद यों है—

परिक्रिया पुराकल्प इतिहासगतिर्द्विधा।
स्यादेकनायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका ॥

[आज-कल पण्डितों में पूर्वमीमांसासूत्र ६।७।२६ के अनुसार 'परिक्रिया' की जगह 'परक्रिया' या 'परकृति' नाम प्रचलित है]।

जिस इतिहास में एक ही प्रधान पुरुष नायक हो उसे 'परिक्रिया' कहते हैं। जैसे रामायण—इसके नायक एक श्रीराम हैं। जिसमें अनेक नायक हों उसे 'पुराकल्प' कहते हैं—जैसे महाभारत। इसमें युधिष्ठिर, अर्जुन, दुर्योधन, भीष्म कई पुरुष नायक कहे जा सकते हैं। मीमांसासूत्र के अनुसार किसी पुरुष-विशेष के चरित्र के वर्णन को 'परकृति' और पुरुषनामोल्लेख के बिना 'किसी समय में ऐसा हुआ' ऐसे आख्यान को 'पुराकल्प' कहते हैं।

२. 'आन्वीक्षिकी'—तर्कशास्त्र।

३. वैदिक वाक्यों की १,००० न्यायों द्वारा विवेचना जिसमें की जाती है उस शास्त्र को 'मीमांसा' कहते हैं। इसके दो भाग हैं—विधि-विवेचनी [जिसे हम लोग 'पूर्वमीमांसा' के नाम से जानते हैं] और ब्रह्मनिदर्शनी [जिसे हम लोग 'ब्रह्ममीमांसा' या 'वेदान्त' कहते हैं]। यद्यपि १,००० के लगभग 'न्याय' वा अधिकरण केवल पूर्वमीमांसा में है।

४. स्मृतियाँ १८ हैं। इनमें वेद में कही हुई बातों का 'स्मरण' है—अर्थात् वैदिक उपदेशों को स्मरण करके ऋषियों ने इन ग्रन्थों को लिखा है—इसी से ये 'स्मृति' कहलाते हैं।

इन्हीं दोनों (पौरुषेय तथा अपौरुषेय) 'शास्त्र' के १४ भेद हैं—वेद, ६ वेदांग, पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा, स्मृति। इन्हीं को १४ 'विद्यास्थान' कहा है—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

(याज्ञवल्क्य)

[इसमें न्याय = आन्वीक्षिकी; धर्मशास्त्र = स्मृति]

तीनों लोक के सभी विषय इन १४ विद्यास्थानों के अन्तर्गत हैं।

'शास्त्र' के सभी विद्यास्थानों का एक-मात्र आधार 'काव्य' है—जो 'वाङ्मय' का द्वितीय प्रभेद है। काव्य को ऐसा मानने का कारण

यह है कि यह गद्यपद्यमय है, कविरचित है, और हितोपदेशक है। यह 'काव्य' शास्त्रों का अनुसरण करता है।

कुछ लोगों का कहना है कि विद्यास्थान १८ हैं। पूर्वोक्त १४ और उनके अतिरिक्त—१५ वार्ता, १६ कामसूत्र, १७ शिल्पशास्त्र, १८ दण्डनीति। [वार्ता = वाणिज्य-कृषिविद्या, दण्डनीति = राजतंत्र]। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति—ये चारों 'विद्या' कहलाती हैं। इनके अतिरिक्त पाँचवीं 'साहित्यविद्या' है। यह चारों विद्याओं का 'निष्यन्द' अर्थात् सारांश है। इन्हीं के उपयोग से धर्म का ज्ञान होता है इसी से ये 'विद्या' कहलाती हैं। इनमें 'त्रयी' वेदों का नाम है।

आन्वीक्षिकी या तर्कशास्त्र के दो अंश हैं—पूर्वपक्ष तथा उत्तर-पक्ष। आस्तिक दार्शनिकों के लिए बौद्ध, जैन तथा लोकायत पक्ष 'पूर्व-पक्ष' हैं और सांख्य, न्याय, वैशेषिक 'उत्तरपक्ष' हैं। इन तर्कों में तीन तरह की कथा होती है—वाद, जल्प, वितंडा। दो आदमियों में किसी को एक पक्ष में आग्रह नहीं है—असली बात क्या है केवल इसी उद्देश्य से जब ये शास्त्रार्थ या बहस करते हैं तो उसे 'वाद' कहते हैं। इसमें किसी की हार जीत नहीं होती। जब दोनों को अपने अपने पक्ष में आग्रह है और केवल एक दूसरे को हराने ही के उद्देश्य से बहस की जाती है—उसे 'जल्प' कहते हैं। दोनों आदमियों में एक तो एक पक्ष का आग्रहपूर्वक अवलम्बन करता है—पर दूसरा किसी भी पक्ष का अवलम्बन नहीं करता—इसलिए वह अपने पक्ष के स्थापन के लिए बहस नहीं करता—केवल दूसरे के पक्ष को दूषित करने का यत्न करता है—इस कथा को 'वितंडा' कहते हैं।

कृषि (खेती), पशुपालन, वाणिज्य, इनको 'वार्ता' कहते हैं—आन्वीक्षिकी-त्रयी-वार्ता इन तीनों के व्यवसाय की रक्षा के लिए 'दण्ड' की आवश्यकता होती है—इसी दण्डशास्त्र को 'दण्डनीति' कहते हैं।

इन्हीं विद्याओं के अधीन सकल लोकव्यवहार है। और इनका विस्तार नदियों के समान कहा गया है—आरम्भ में स्वल्प फिर विपुल, विस्तृत।

"सरितामिव प्रवाहास्तुच्छाः प्रथमं यथोत्तरं विपुलाः"

इन शास्त्रों का निबन्धन सूत्र-वृत्ति-भाष्यादि के द्वारा होता है। विषय का सूत्रण—सूचना-मात्र—जिसमें हो उसे 'सूत्र' कहते हैं—

स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रकृतो विदुः॥

जिसमें अक्षर कम हों—जिसका अर्थ स्पष्ट गम्भीर तथा व्यापक हो—उसे सूत्र कहते हैं। सूत्रों के सारांश का वर्णन जिसमें हो उसे 'वृत्ति' कहते हैं। सूत्र और वृत्ति के विवेचन (परीक्षा) को 'पद्धति' कहते हैं। सूत्र वृत्ति में कहे हुए सिद्धान्तों पर आक्षेप करके फिर उसका समाधान कर उन सिद्धान्तों का विवरण जिसमें हो उसे 'भाष्य' कहते हैं। भाष्यं के बीच में प्रकृत विषय को छोड़ कर दूसरे विषय का जो विचार किया जाय उसे 'समीक्षा' कहते हैं। पूर्वोक्त सभों में जितने अर्थ सूचित हों उन सभों का यथासम्भव 'टीकन'-उल्लेखं जहाँ हो उसे 'टीका' कहते हैं। पूर्वोक्त ग्रन्थों में जो कहीं कहीं कठिन पद हों उन्हीं का विवरण जिसमें हो उसे 'पञ्जिका' कहते हैं। जिसमें सिद्धान्त का प्रदर्शन-मात्र हो सो 'कारिका' है। मूल ग्रन्थ में क्या कहा गया, क्या नहीं कहा गया, कौन सी बात उचित रीति से नहीं कही गई—इत्यादि विचार जिस ग्रन्थ में हो वह 'वार्तिक' है। इनमें से आज भी सूत्र-वृत्ति-भाष्य-वार्तिक-टीका-कारिका इतने तो भली भाँति प्रसिद्ध हैं। पंजिका बीस बरस पहले तक अज्ञात थी। पर १९०७ ईसवी में विलायत से Colonel Jacob ने मेरे पास एक पुस्तक भेजी—जिसका नाम 'ऋजुविमला' तो हम सबों को ज्ञात था—पर उसकी पुष्पिका में 'भाष्य'

(६)

'टीका' इत्यादि नहीं लिख कर 'पञ्जिका' लिखा था। तब से उस ग्रन्थ को लोग 'पञ्जिकामीमांसा' या 'मीमांसापञ्जिका' भी कहने लगे हैं। [इस ग्रन्थ से मुझे अपनी प्रभाकरमीमांसा लिखने में बड़ी सहायता मिली थी—अब यह काशी में छप रहा है]। पर 'पञ्जिका' पद का क्या असल अर्थ है सो ज्ञात नहीं था—नाना प्रकार के तर्क हम लोग किया करते थे। राजशेखर के ही ग्रन्थ को देखकर यह पता चला कि एक प्रकार की टीका ही का नाम 'पञ्जिका' है। पर इतना कहना पड़ता है कि 'पञ्जिका' का जैसा लक्षण ऊपर कहा है—जिसमें केवल विषम पदों के विवरण हों—सो लक्षण उक्त ग्रन्थ में नहीं लगता। यह ग्रन्थ बहुत विस्तृत है। उसके मूल प्रभाकररचित बृहती के जहाँ १०० पृष्ठ हैं तहाँ ऋजुविमला के कम से कम ५०० पृष्ठ होंगे। ऐसे ग्रन्थ को हम 'विषमपदटिप्पणी' नहीं कह सकते।

शास्त्र के किसी एक अंश को लेकर जो ग्रंथ लिखा गया उसे 'प्रकरण' कहते हैं। ग्रन्थों के अवान्तर विभाग 'अध्याय' 'परिच्छेद' इत्यादि नाम से प्रसिद्ध हैं।

'साहित्य' पद का असली अर्थ क्या है सो भी इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है। 'शब्द और अर्थ का यथावत् सहभाव' अर्थात् 'साथ होना' यही 'साहित्य' पद का यौगिक अर्थ है—सहितयोः भावः (शब्दार्थयोः)। इस अर्थ से 'साहित्य' पद का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाता है। सार्थक शब्दों के द्वारा जो कुछ लिखा या कहा जाय सभी 'साहित्य' नाम में अन्तर्गत हो जाता है—किसी भी विषय का ग्रन्थ हो या व्याख्यान हो—सभी 'साहित्य' है।

(२)

साहित्य के विषय में एक रोचक और शिक्षाप्रद कथानक है। पुत्र की कामना से सरस्वतीजी हिमालय में तपस्या कर रही थीं।

ब्रह्माजी के वरदान से उन्हें एक पुत्र हुआ—जिसका नाम 'काव्यपुरुष' हुआ (अर्थात् पुरुष के रूप में काव्य)। जन्म लेते ही उस पुत्र ने यह श्लोक पढ़कर माता को प्रणाम किया—

"यदेतद्वाङ्मयं विश्वमथ मूर्त्या विवर्तते ।
सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ ॥"

अर्थात्—'जो वाङ्मयविश्व (शब्दरूपी संसार) मूर्तिधारण करके विवर्तमान हो रहा है सो ही काव्यपुरुष मैं हूँ। हे माता तेरे चरणों को प्रणाम करता हूँ।' इस पद्य को सुनकर सरस्वती माता प्रसन्न हुई और कहा—'वत्स, अब तक विद्वान् गद्य ही बोलते आये आज तूने पद्य का उच्चारण किया है। तू बड़ा प्रशंसनीय है। अब से शब्द-अर्थ-मय तेरा शरीर है—संस्कृत तेरा मुख—प्राकृत बाहु—अप-भ्रंश जाँघ—पैशाचभाषा पैर—मिश्रभाषा वक्षःस्थल—रस आत्मा—छन्द लोम—प्रश्नोत्तर, पहेली इत्यादि तेरा खेल—अनुप्रास उपमा इत्यादि तेरे गहने हैं। श्रुति ने भी इस मन्त्र में तेरी ही प्रशंसा की है—

'चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥"
ऋग्वेद ३।८।१०।३ ।

इस वैदिक मन्त्र के कई अर्थ किये गये हैं। (१) कुमारिल-कृत तन्त्रवार्तिक (१।२।४६) के अनुसार यह सूर्य की स्तुति है। चार 'शृङ्ग' दिन के चार भाग हैं। तीन 'पाद' तीन ऋतु—शीत, ग्रीष्म, वर्षा। दो 'शीर्ष' दोनों छः छः महीने के अयन। सात 'हाथ' सूर्य के सात घोड़े। 'त्रिधाबद्ध' प्रातः मध्याह्न-सायं-सवन (तीनों समय से सोमरस खींचा जाता है)। 'वृषभ' वृष्टि का मूल कारण प्रवर्तक। 'रोरवीति,' मेघ का गर्जन। 'महोदेव' बड़े

देवता—सूर्य जिनको सभी लोग प्रत्यक्ष देवतारूप में देखते हैं। (२) सायणाचार्य ने ऐसा अर्थ किया है—इसमें यज्ञ-रूप अग्नि का वर्णन है। चार 'श्रृङ्ग' हैं चारों वेद। तीन 'पाद' तीनों सवन—प्रातः मध्याह्न सायं। दो 'शीर्ष' ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य। सात 'हाथ' सातों छन्द। 'त्रिधाबद्ध' मन्त्र-कल्प-ब्राह्मण तीन प्रकार से जिसका निबन्धन हुआ है। 'वृषभ' कर्मफलों का वर्षण करनेवाला। 'रोरवीति' यज्ञानुष्ठान काल में मन्त्रादिपाठ तथा सामगानादि शब्द कर रहे हैं। (३) सायणाचार्य ने भी इसे सूर्यपक्ष में इस तरह लगाया है—चार 'श्रृङ्ग' हैं चारो दिशा। तीन 'पाद' तीन वेद। दो 'शीर्ष' रात और दिन। सात 'हाथ' सात ऋतु-वसन्तादि छः पृथक् पृथक् और एक सातवाँ 'साधारण'। 'त्रिधाबद्ध' पृथिवी आदि तीन स्थान में अग्नि आदि रूप से स्थित—अथवा ग्रीष्म–वर्षा–शीत तीन काल में बद्ध। 'वृषभ' वृष्टि करनेवाला। 'रोरवीति' वर्षाद्वारा शब्द करता है। 'महो देव' बड़े देवता। 'मर्त्यान् आविवेश' नियन्ता आत्मा रूप में सभी जीवों में प्रवेश किया। (४) शाब्दिकों के मत से इस मन्त्र में शब्द रूप ब्रह्म का वर्णन है—जिसको विशद रूप से पतञ्जलि ने महाभाष्य (पस्पशाह्निक पृ० १२) में बतलाया है। चार 'श्रृङ्ग' हैं चारों तरह के शब्द, नाम–आख्यात–उपसर्ग-निपात [उद्योत के मत से परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी]। तीन 'पाद' तीनों काल, भूत भविष्यत् वर्तमान। दो 'शीर्ष' दो तरह के शब्द—नित्य-अनित्य, अर्थात् व्यंग्य व्यंजक (प्रदीप)। 'सात' हाथ, सात विभक्तियाँ। 'त्रिधा बद्ध' हृदय-कण्ठ-मूर्धा इन तीनों स्थानों में बद्ध। 'वृषभ' वर्षण करनेवाला। 'रोरवीति' शब्द करता है। 'महो देवः' बड़ा देव, शब्दब्रह्म। मर्त्यान् 'आविवेश' मनुष्यों में प्रवेश किया। (५) भरत नाट्यशास्त्र (अ० १७) में लिखा है—सप्त स्वराः, त्रीणि स्थानानि (कंठ-हृदय-मूर्धा), चत्वारो वर्णाः, द्विविधा काकुः, षडलंकाराः, षडंगानि'।

इतना कह कर सरस्वतीजी चली गईं। उसी समय उशनस् (शुक्र महाराज) कुश और लकड़ी लेने जा रहे थे। बच्चे को देख कर अपने आश्रम में ले गये। वहाँ पहुँच कर बच्चे ने कहा—

या दुग्धाऽपि न दुग्धेव कविदोग्धृभिरन्वहम्।
हृदि नः सन्निधत्तां सा सूक्तिधेनुः सरस्वती॥

अर्थात् 'सुभाषित की धेनु—जो कवियों से दुही जाने पर भी नहीं दुही की तरह बनी रहती है—ऐसी सरस्वती मेरे हृदय में वास करें'। उसने यह भी कहा कि इस श्लोक को पढ़कर जो पाठ आरम्भ करेगा वह सुमेधा बुद्धिमान् होगा। तभी से शुक्र को लोग 'कवि' कहने लगे। 'कवि' शब्द 'कवृ' धातु से बना है—जिससे उसका अर्थ है 'वर्णन करनेवाला'। कवि का कर्म है 'काव्य'। इसी मूल पर सरस्वती के पुत्र का भी नाम 'काव्यपुरुष' प्रसिद्ध हुआ। इतने में सरस्वतीजी लौटीं, पुत्र को न देखकर दुखी हुईं। वाल्मीकि उधर से जा रहे थे। उन्होंने बच्चे का शुक्र के आश्रम में जाने का ब्यौरा कह सुनाया। प्रसन्न होकर उन्होंने वाल्मीकि को छन्दोमयी वाणी का वरदान दिया। जिस पर दो चिड़ियों में से एक को व्याध से मारा हुआ देख कर उनके मुँह से यह प्रसिद्ध श्लोक निकल आया।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

इस श्लोक को भी वरदान दिया कि कुछ और पढ़ने के पहले यदि कोई इस श्लोक को पढ़ेगा तो वह कवि होगा। मिथिला में अब तक बच्चों को सबसे पहले यही श्लोक सिखलाया जाता

है। इसी के साथ साथ एक और श्लोक सभों को सिखलाया जाता है

> सा ते भवतु सुप्रीता देवी शिखरवासिनी।
> उग्रेण तपसा लब्धो यया पशुपतिः पतिः॥

फिर इसी 'मा निषाद' श्लोक के प्रभाव से वाल्मीकि ने रामायण रचा और द्वैपायन ने महाभारत।

एक दिन ब्रह्माजी की सभा में दो ब्रह्मर्षियों में वेद के प्रसंग शास्त्रार्थ हो रहा था उसमें निर्णेत्री होने के लिए सरस्वतीजी बुलाई गईं। काव्यपुरुष भी माता के पीछे हो लिये। माता ने मना किया—विना ब्रह्माजी की आज्ञा के वहाँ जाना उचित नहीं होगा। इस पर रुष्ट होकर काव्यपुरुष कहीं चल दिये। उनको जाते देख उनके मित्र कुमार (शिवजी के पुत्र) रोने लगे। उनकी माता ने काव्यपुरुष को लौटाने के लिए एक उपाय सोचा। प्रेम से दृढ़ बन्धन प्राणियों के लिए कोई दूसरा नहीं है ऐसा विचार कर उन्होंने 'साहित्यवधू' रूप में एक स्त्री को सिरजा और उससे कहा—'यह तेरा धर्मपति काव्यपुरुष रूठ कर चला जा रहा है—उसके पीछे जा उसे लौटा ला'। ऋषियों से भी कहा 'तुम भी काव्यपुरुष की स्तुति करते हुए इनके पीछे जाओ। ये ही तुम्हारे काव्यसर्वस्व होंगे'।

सब लोग पहले पूरब की ओर चले—जिधर अंग-वंग-सुम्ह-पुंड्र इत्यादि देश हैं। इन देशों में साहित्यवधू ने जैसा वेशभूषा धारण किया उसी का अनुकरण उन देशों की स्त्रियों ने किया। जिस वेशभूषा का वर्णन ऋषियों ने इन शब्दों में किया—

> आर्द्रार्द्रचन्दनकुचार्पितसूत्रहारः
> सीमन्तचुम्बिसिचयः स्फुटबाहुमूलः।

दूर्वाभकाण्डरुचिरास्त्वगरुपभोगात्
गौडाङ्गनासु चिरमेष चकास्तु वेषः ॥
[चन्दनचर्चितकुचन पर विलसत सुन्दर हार।
सिरचुम्बी सुन्दर वसन बाहुमूल उघरार ॥
अगुरु लगाये देह में दूर्वा श्यामल रूप।
शोभित सन्तत हो रही नारी गौड अनूप ॥]

उन देशों में जाकर काव्यपुरुष ने जैसी वेशभूषा धारण की वहाँ के पुरुषों ने भी उसी का अनुकरण किया। उन देशों में जैसी भाषा साहित्यवधू बोलती गई वहाँ वैसी ही बोली बोली जाने लगी। उसी बोल चाल की रीति का नाम हुआ 'गौडी रीति'—जिसमें समास तथा अनुप्रास का प्रयोग अधिक होता है। वहाँ जो कुछ नृत्य गीतादिकला उन्होंने दिखलाई उसका नाम हुआ 'भारतीवृत्ति'। वहाँ की प्रवृत्ति का नाम हुआ 'रौद्रभारती'।

वहाँ से सब लोग पाञ्चाल की ओर गये। जहाँ पाञ्चाल-शूरसेन-हस्तिनापुर-काश्मीर-वाहीक-बाह्लीक इत्यादि देश हैं। वहाँ जो वेषभूषा साहित्यवधू की थी उसका वर्णन ऋषियों ने यों किया—

ताटङ्कवल्गनतरङ्गितगण्डलेख—
मानाभिलम्बिदरदोलिततारहारम्।
आश्रोणिगुल्फपरिमण्डलितोत्तरीयं
वेषं नमस्यत महोदयसुन्दरीणाम् ॥
[तडकी चञ्चल झूलती सुन्दरगोलकपोल।
नाभीलम्बित हार नित लिपटे वस्त्र अमोल ।]

इन देशों में जो नृत्यगीतादिकला साहित्यवधू ने दिखलाई उसका नाम 'सात्वतीवृत्ति' और वहाँ की बोल-चाल का

नाम हुआ 'पाञ्चाली रीति' जिसमें समासों का प्रयोग कम होता है।

वहाँ से अवन्ती गये। जिधर अवन्ती-वैदिश-सुराष्ट्र-मालव-अर्बुद-भृगुकच्छ इत्यादि देश हैं। वहाँ की वृत्ति का नाम हुआ 'सात्वती-कैशिकी'। इस देश की वेषभूषा में पाञ्चाल और दक्षिण देश इन दोनों का मिश्रण है। अर्थात् यहाँ की स्त्रियों की वेषभूषा दाक्षिणात्यस्त्रियों के समान—और पुरुषों की पाञ्चालवासियों के समान था। यहाँ की प्रवृत्ति का नाम 'आवन्ती' हुआ।

अवन्ती से सब लोग दक्षिण दिशा को गये—जहाँ मलय-मेकल-कुन्तल-केरल-पालमञ्जर-महाराष्ट्र-गङ्ग-कलिङ्ग इत्यादि देश हैं। वहाँ की स्त्रियों की वेषभूषा का वर्णन ऋषियों ने यों किया है—

> आमूलतो वलितकुन्तलचारुचूड—
> श्चूर्णालकप्रचयलाञ्छितभालभागः।
> कक्षानिवेशनिविडीकृतनीविरेष
> वेषश्चिरं जयति केरलकामिनीनाम्॥
> [बाँधे केश सुवेश नित चुकनी रञ्जित भाल।
> नीवी कच्छा में कसी, विलसत दक्षिणबाल॥]

यहाँ की प्रवृत्ति का 'दाक्षिणात्य वृत्ति' नाम हुआ। साहित्यवधू ने यहाँ जिस नृत्यगीतकला का उपयोग किया उसका नाम 'कैशिकी' हुआ। बोलचाल की रीति का नाम 'वैदर्भी' हुआ जिसमें अनुप्रास होते हैं, समास नहीं होता।

'प्रवृत्ति' कहते हैं वेषभूषा को, 'वृत्ति' कहते हैं नृत्यगीतादिकला-विलास को—और 'रीति' कहते हैं बोलचाल के क्रम को। देश तो अनन्त हैं परन्तु इन्हीं चार विभागों में सभों को विभक्त किया है—प्राच्य—पाञ्चाल—अवन्ती—दाक्षिणात्य। इन सभों का सामान्य

नाम है 'चक्रवर्तिक्षेत्र' जो दक्षिण समुद्र से लेकर उत्तर की ओर १,००० योजन (४,००० कोस) तक प्रसरित है। इस देश में जैसी वेश-भूषा कह आये हैं वैसी ही होनी चाहिए। इसी में अन्तर्गत एक विदर्भ देश है जहाँ कामदेव का क्रीड़ास्थान वत्सगुल्मनामक नगर है। उसी नगर में पहुँचकर काव्यपुरुष ने साहित्यवधू के साथ विवाह किया और लौट कर हिमालय आये जहाँ गौरी और सरस्वती उनकी प्रतीक्षा कर रही थीं। इन्होंने वधूवर को वर दिया कि सदा कवियों के मानस में निवास करें।

यही काव्यपुरुष की कथा है।

(३)

शिष्य तीन तरह के होते हैं—(१) बुद्धिमान् (२) आहार्यबुद्धि (३) दुर्बुद्धि। जो स्वभाव ही से बिना किसी की सहायता से बिना अभ्यास के शास्त्रग्रहण कर सके उसे 'बुद्धिमान्' कहते हैं। जिसको शास्त्रज्ञान शास्त्र के अभ्यास से होता है उसे 'आहार्यबुद्धि' कहते हैं। इन दोनों से अतिरिक्त 'दुर्बुद्धि' है। ये सामान्यतः शिष्य के विभाग हैं। काव्यशिष्य के विभागों का निरूपण कविकण्ठाभरण के अनुसार आगे होगा।

बुद्धि तीन प्रकार की होती है– स्मृति, मति, प्रज्ञा। अतीत वस्तु का ज्ञान जिससे होता है वह है 'स्मृति'। वर्तमान वस्तु का ज्ञान जिससे होता है सो है 'मति'। और आगामी (भविष्यत्) वस्तु का ज्ञान जिससे होता है सो है 'प्रज्ञा'। तीनों प्रकार की बुद्धि से कवियों को मदद मिलती है। शिष्यों में जो 'बुद्धिमान्' है वह उपदेश सुनने की इच्छा से—उसे सुनता है—उसका ग्रहण करता है—धारण करता है—उसका विज्ञान (विशेष रूप से ज्ञान) सम्पादन करता है—ऊह (तर्क) करता है—अपोह (जो बातें मन में नहीं जँचतीं उनका परित्याग) करता है—

फिर तत्त्व पर स्थिर हो जाता है। 'आहार्यबुद्धि' शिष्य का भी यही व्यापार होता है। परन्तु उसके केवल उपदेष्टा की आवश्यकता नहीं है—उसे एक प्रशास्ता (शासन करनेवाला, बराबर देख-भाल करने वाला) की आवश्यकता रहती है। प्रतिदिन गुरु की उपासना दोनों तरह के शिष्यों का प्रकृष्ट गुण समझा जाता है। यही उपासना बुद्धि के विकास में प्रधान साधन होती है। इस तत्त्वज्ञानप्रक्रिया का संग्रह यों किया गया है—

(१) प्रथयति पुरः प्रज्ञाज्योतिर्यथार्थपरिग्रहे
(२) तदनु जनयत्यूहापोहक्रियाविशदं मनः।
(३) अभिनिविशते तस्मात् तत्त्वं तदेकमुखोदयं
(४) सह-परिचयो विद्यावृद्धैः क्रमादमृतायते ॥

(१) पहले अर्थों के यथावत् ज्ञान के योग्य प्रज्ञा उत्पन्न होती है—(२) उसके बाद ऊहापोह (तर्क वितर्क) करने की योग्यता मन में उत्पन्न होती है—(३) फिर एकान्त वस्तुतत्त्वमात्र में मन लग जाता है—(४) ज्ञानवृद्ध सज्जनों का परिचय क्रमेण अमृत हो जाता है।

'बुद्धिमान्' शिष्य तत्त्व जल्दी समझ लेता है। एक बार सुन लेने ही से वह बात समझ लेता है। ऐसे शिष्य को कविमार्ग की (कवि का क्या रास्ता होना चाहिए इसकी) खोज में गुरु के पास जाना चाहिए। 'आहार्यबुद्धि' शिष्य एक तो पहले समझता नहीं—और फिर समझाने पर भी मन में नाना प्रकार के संशय रह जाते हैं। इसको उचित है कि अज्ञात वस्तु को जानने के लिए और संशयों को दूर करने के लिए आचार्य के पास जाय। जो शिष्य 'दुर्बुद्धि' है वह सभी जगह उलटा ही समझेगा। इसकी तुलना काले कपड़े के साथ की गई है—जिस पर दूसरा कोई रंग चढ़ ही नहीं सकता। ऐसे आदमी को यदि ज्ञान हो सकता है तो केवल सरस्वती के प्रसाद से।

इसके प्रसंग में एक कथा कालिदास की मिथिला में प्रसिद्ध है। कालिदास उन्हीं शिष्यों में से थे जिनका परिगणन 'दुर्बुद्धि' की श्रेणी में होता है। गुरु के चौपाड़ पर रहते तो थे पर बोध एक अक्षर का नहीं था। केवल खड़िया लेकर ज़मीन पर घिसा करें—अक्षर एक भी न बने। मिथिला में एक प्राचीन देवी का मन्दिर उचैठगांव में है। वहाँ अब तक जंगल सा है। कालिदास जहाँ पढ़ने को भेजे गये थे वह चौपाड़ इसी मन्दिर के कोस दो कोस के भीतर कहीं था। एक रात को अन्धकार छाया हुआ था, पानी ज़ोर से बरस रहा था। विद्यार्थियों में शर्त होने लगी कि यदि इस भयंकर रात में कोई देवीजी का दर्शन कर आवे तो उसे सब लोग मिल कर या तो स्याही बना देंगे या कागज़ बना देंगे। [स्याही बनाने की प्रक्रिया तो अब भी देहातों में चलती है सो तो सभी को ज्ञात होगा। विद्यार्थी लोग कागज़ कैसे बनाते थे सो प्रक्रिया अब इधर ३०, ४० वर्षों से लोगों ने नहीं देखी होगी। नेपाल में बाँस से एक प्रकार का कागज़ बनता है। यह बड़ा पतला होता है—यद्यपि बड़ा ही मज़बूत। पतला बहुत होने के कारण पुस्तक लिखने के योग्य नहीं होता। यद्यपि और सब तरह की कागज़ी कारर्वाई अब तक भी नेपाल में उसी से चलती है। इस कागज़ को पुस्तक लिखने के योग्य बनाने की प्रक्रिया यह थी। बाल्यावस्था में मैं भी इस प्रक्रिया में मदद किया करता था इसी से अच्छी तरह स्मरण है। चावल का मांड बनाकर कागज़ उसमें डाल दिया जाता है—अक्सर मांड में हरताल छोड़ देते हैं—जिससे कागज़ का रंग सुन्दर पीला हो जाता है और कागज़ में कीड़े लगने की सम्भावना भी कम हो जाती है। मांड में थोड़ी देर रखने के बाद कागज़ धूप में फैलाया जाता है। अच्छी तरह सूख जाने पर कागज़ मोटा हो जाता है पर खुरखुरा इतना रहता है कि लिखना असम्भव होता है। इसका उपाय कठिन परिश्रमसाध्य होता है।

एक जंगली वस्तु काली सी होती है—प्राय: किसी बड़े फल का बीज है—जिसे मिथिला में 'गेल्ही' कहते हैं। पीढ़े पर काग़ज़ को फैला कर इसी गेल्ही से घंटों रगड़ने से काग़ज़ खूब चिकना हो जाता है।] किसी भी विद्यार्थी को इस शर्त के स्वीकार करने का साहस न हुआ। कालिदास उजड्ड तो थे ही—कहा मैं जाऊँगा। फिर मन्दिर में गया—इसका प्रमाण क्या होगा इसका यह निश्चय हुआ कि जो जाय सो स्याही लेता जाय मन्दिर की दीवार में अपने हाथ का छापा लगा आवे। कालिदास गये। पर मन्दिर के भीतर जाने पर उन्हें यह सन्देह हुआ कि दीवार में हाथ का छापा लगावें तो कदाचित् पानी के बौछार से मिट जाय। इस-डर से उन्होंने यही निश्चय किया कि देवी की मूर्ति के मुँह में ही स्याही का छापा लगाया जाय तो ठीक होगा। ज्योंही हाथ बढ़ाया त्यों ही मूर्ति खिसकने लगी। कालिदास ने पीछा किया। अन्ततो गत्वा देवी प्रत्यक्ष हुई और कहा 'तू क्या चाहता है'? भगवती के दर्शन से कालिदास की आँखें खुलीं, उन्होंने कहा—'मुझे विद्या दो मैं यही चाहता हूँ।' देवी ने कहा—'अच्छा—तू अभी जाकर रात भर में जितने ग्रन्थ उलटेगा सभी तुम्हें अभ्यस्त हो जायँगे।' कालिदास ने जाकर विद्यार्थियों के तो सहज ही गुरुजी की भी जितनी पुस्तकें थीं सब के पन्ने उलट डाले। और परम पण्डित हो गये।

दुर्बुद्धि के लिए इसी तरह यदि सरस्वतीजी की कृपा हो सो छोड़ कर और उपाय नहीं है।

(४)

काव्य की उत्पत्ति का प्रधान कारण है 'समाधि'—अर्थात् मन की एकाग्रता। जब तक मन एकाग्र समाहित नहीं होता तब तक बातें नहीं सूझतीं। दूसरा कारण है 'अभ्यास'—अर्थात् बारम्बार

परिशीलन। इसका प्रभाव सर्वव्यापी है। इन दोनों में भेद यह है कि 'समाधि' है आभ्यन्तर (मानसिक) प्रयत्न और 'अभ्यास' है बाह्य प्रयत्न। समाधि और अभ्यास—इन दोनों के द्वारा 'शक्ति' उद्भासित होती है। 'शक्ति' ही एक काव्य का हेतु है—ऐसा ही सिद्धान्त माना गया है। मम्मट ने भी काव्यहेतु में पहला स्थान 'शक्ति' ही को दिया है।

> शक्तिर्निपुणता लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्।
> काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

यहाँ 'शक्ति' का अर्थ है 'कवित्वबीजरूप संस्कारविशेष जिसके बिना काव्य का प्रसार हो ही नहीं सकता—यदि हुआ भी तो हास्यास्पद होगा'। इस 'शक्ति' का प्रसार, विस्तार, व्यापार होता है 'प्रतिभा' और 'व्युत्पत्ति' के द्वारा। जिसमें 'शक्ति' है उसी की 'प्रतिभा' या 'व्युत्पत्ति' चरितार्थ होती है।

'प्रतिभा' वह है जिसके द्वारा शब्द-अर्थ-अलंकार तथा और वचन-विन्यास के सम्बद्ध विषय हृदय में भासित हों। जिसे 'प्रतिभा' नहीं उसे पदपदार्थों का साक्षात् ज्ञान नहीं हो सकता—उसका ज्ञान सदा परोक्ष ही रहेगा। और जिसे 'प्रतिभा' है वह जिस पदपदार्थ को नहीं देखेगा उसका भी ज्ञान उसे प्रत्यक्ष ही होगा। इसी 'प्रतिभा' के प्रसाद से मेधाविरुद्र-कुमारदास-प्रभृति जन्मान्ध पुरुष भी बड़े कवि हो गये हैं। इसी 'प्रतिभा' के प्रसाद से कवियों ने नित्य अदृश्य और अदृष्ट पदार्थों का—तथा देशान्तर की परिस्थितियों का भी—बिना साक्षात् देखे भी वर्णन किया है। इसके दृष्टान्त में राजशेखर ने कालिदास ही के श्लोक उद्धृत किये हैं।

> (१) प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
> तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे पुण्याभिषेकक्रिया।

ध्यान रत्नशिलागृहेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमो
यत् काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी ॥
शकुन्तला (७।१२)

यहाँ कालिदास ने लोकान्तर (स्वर्गलोक) की परिस्थितियों का वर्णन किया है जिसे उन्होंने कभी देखा नहीं।

(२) अनेन सार्द्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु ।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥
रघुवंश (६।५७)

यहाँ द्वीपान्तरीय लवंगपुष्प का वर्णन बिना देखे किया गया है।

(३) हरोऽपि किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥
कुमारसम्भव (३।६७)

यहाँ शिवजी और पार्वतीजी का वर्णन है—जिन्हें कवि ने कभी नहीं देखा। ऐसे तो अदृष्ट वस्तु का वर्णन सभी लोग करते हैं। पर चमत्कार इसमें है कि अदृष्ट वस्तु का वर्णन होते हुए भी वर्णन स्वाभाविक ज्ञात हो और यह न भासित हो कि कवि बिना देखे ही काल्पनिक वर्णन कर रहा है। सच्चे कवि की कल्पना और मामूली पुरुषों की कल्पना में यही भेद है कि कवि की कल्पित वस्तु कल्पित नहीं—तात्त्विक ही—जान पड़ता है। शकुन्तला के अभिनय के समय दर्शक यह भूल जाते हैं कि अभिनय देख रहे हैं—तत्काल उन्हें यही भासित होता है कि साक्षात् शकुन्तला-दुष्यन्त ही सामने हैं।

'प्रतिभा' का लक्षण और ग्रंथों में इससे अच्छा मिलता है—'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता'। जिस प्रज्ञा के द्वारा नई

नई कल्पना होती हैं उसे 'प्रतिभा' कहते हैं। प्राय: यह वही शक्ति है जिसे अँगरेज़ी में Intuitive Faculty, Poetic Sense, Imagination कहते हैं।

प्रतिभा दो प्रकार की मानी गई है—'कारयित्री' तथा 'भावयित्री'।

जिस 'प्रतिभा' से कवि काव्य करता है वह है 'कारयित्री'—काव्य करानेवाली। और जिस प्रतिभा से लोग काव्य का आस्वादन करते हैं वह है 'भावयित्री'—बोध करानेवाली। कारयित्री प्रतिभा तीन तरह की है—सहजा, आहार्या, औपदेशिकी। पूर्व जन्म के संस्कार से जो प्राप्त है सो 'सहजा' स्वाभाविकी है। इस जन्म के संस्कार से जो प्राप्त है सो 'आहार्या', अर्जिता है। मन्त्र, शास्त्र, आदि के उपदेश से जो प्राप्त है सो 'औपदेशिकी' उपदेशप्राप्त है। अर्थात् इस जन्म में किञ्चिन्मात्र संस्कार से जो प्रतिभा उद्भूत होती है उसे 'सहजा' कहते हैं। यह लगभग पूर्ण-रूप से पूर्वजन्मसंस्कारद्वारा पुरुष में वर्तमान रहती है, केवल किञ्चिन्मात्र उद्बोधक की आवश्यकता रहती है। जैसे बैटरी में वैद्युत अग्नि पूर्ण रूप से वर्तमान है—केवल एक घुंडी दबाने ही से पूरी तौर से उद्भूत हो जाता है। जिस प्रतिभा के उद्भूत होने में इस जन्म में अधिक परिश्रम की अपेक्षा हो उसे 'आहार्या' कहते हैं—जैसे राखी के ढेर में कहीं एक चिनगारी आग की पड़ी है—उसको प्रज्वलित करने और उसे काम के योग्य बनाने में बड़े परिश्रम की अपेक्षा होती है। और औपदेशिकी प्रतिभा वह है जिसका अङ्कुर भी पूर्वजन्म सम्पादित नहीं है—इसी जन्म के उपदेश और परिश्रम से जो संस्कार उत्पन्न होता है उसी से यह प्रतिभा उद्भूत होती है—जैसे जहाँ आग का लेश भी नहीं है बड़े परिश्रम से लकड़ी के टुकड़ों को रगड़ कर अग्निकण उत्पन्न करके आग जलाई जाती है।

इन तीन तरह की प्रतिभावाले कवि भी तीन तरह के होते हैं—जिनका नाम है 'सारस्वत', 'आभ्यासिक', 'औपदेशिक'। जन्मान्तरीय संस्कार से जिसकी सरस्वती प्रवृत्त हुई है वह बुद्धिमान् 'सारस्वत' कवि है। इसी जन्म के अभ्यास से जिसकी सरस्वती उद्भासित हुई है वह आहार्यबुद्धि 'आभ्यासिक' कवि है। जिसकी वाक्य-रचना केवल उपदेश के सहारे होती है वह दुर्बुद्धि 'औपदेशिक' कवि है। कुछ लोगों का सिद्धान्त है कि सारस्वत और आभ्यासिक कवि को शास्त्राभ्यास के पीछे नहीं पड़ना चाहिए। पर यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। क्योंकि एक ही कार्य के लिए यदि दो उपाय किये जायँ तो कार्य द्विगुण अच्छा होता है। किसी प्रकार का कवि हो जिसमें उत्कर्ष है वही श्रेष्ठ है। और उत्कर्ष एकः गुण से नहीं होता—अनेक गुणों के सन्निपातों से होता है। जैसे—

(१) बुद्धिमत्त्वं च—(२) काव्याङ्गविद्यास्वभ्यासकर्म च।
(३) कवेश्चोपनिषच्छक्तिस्त्रयमेकत्र दुर्लभम्॥

अर्थात्—बुद्धिमत्ता—काव्याङ्गविद्या का अभ्यास—कवि का असल रहस्य शक्ति—ये तीनों एकत्र दुर्लभ हैं। काव्यप्रकाश में ये तीन कहे हैं—

(१) शक्तिः—(२) काव्यशास्त्राद्यवेक्षणात् निपुणता (३) काव्यज्ञशिक्षया अभ्यासः।

तीनों प्रकार के कवियों में एक प्रकार का और भेद बतलाया है—

एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्य-
मन्यस्य गच्छति सुहृद्भवनानि यावत्।
न्यस्याविदग्धवदनेषु पदानि शश्वत्
कस्यापि सञ्चरति विश्वकुतूहलीव॥

अर्थात् सबसे न्यून दरजे के कवि का काव्य उसके घर ही में रहता है। मध्यम श्रेणी के कवि का काव्य उसके मित्रों के घर तक पहुँचता है। उत्तम कवि का काव्य संसार भर में फैल जाता है।

यह हुई 'कारयित्री प्रतिभा'।

'भावयित्री प्रतिभा' वह है जो कवि के परिश्रम और अभिप्राय का बोध करावे। इसी से कवि का व्यापार सफल होता है। यदि समझनेवाला न हुआ तो काव्य ही क्या, और काव्य समझने के लिए भी लगभग उतनी ही प्रतिभा की आवश्यकता है जितनी काव्य करने के लिए। कुछ लोगों का कहना है कि जो ही भावक है वही कवि भी है। पर यह ठीक नहीं। दोनों का स्वरूप भी भिन्न है विषय भी भिन्न है। इस पर यह श्लोक है—

> कश्चिद्वाचं रचयितुमलं, श्रोतुमेवापरस्तं
> कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति।
> नह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणानाम्
> एकः सूते कनकमुपलः, तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः॥

अर्थात्—कोई आदमी केवल वाक्य-रचना ही में समर्थ होता है—कोई उसके सुनने ही में। ये दोनों तरह की बुद्धि हमारे मन में आश्चर्य उत्पन्न करती हैं। एक ही मनुष्य में अनेक विशिष्ट गुणों का सन्निपात नहीं होता। सोने को उत्पन्न करनेवाला पत्थर और होता है और उसकी परीक्षा में समर्थ दूसरा ही।

भावक चार प्रकार के होते हैं—(१) विवेकी—(२) अविवेकी (३) मत्सरी—(४) तत्त्वाभिनिवेशी। विवेकी भी दो प्रकार के होते हैं—स्वभाव से ही गुण दोष जानने के सामर्थ्यवाले और विद्या सीखकर गुण-दोष जाननेवाले। मत्सरी भावक को सौन्दर्य भासित होने पर भी नहीं भासित सा है—क्योंकि वह उसे प्रकाश नहीं

करता। ज्ञाता होकर मत्सर-रहित विरले ही होते हैं। जैसा इस श्लोक में कहा है—

कस्त्वं भोः—कविरस्मि—काप्यभिनवा सूक्तिः सखे पठ्यताम्—
त्यक्ता काव्यकथैव सम्प्रति मया—कस्मादिदं—श्रूयताम्—
यः सम्यग्विविनक्ति दोषगुणयोः सारं स्वयं सत्कविः
सोऽस्मिन् भावक एव नास्त्यथ भवेद्दैवान्न निर्मत्सरः॥

एक कवि से किसी ने पूछा—भाई तुम कौन हो?

कवि—मैं कवि हूँ।

पुरुष—कोई नई कविता पढ़ो।

कवि—अब तो मैंने काव्य की चर्चा ही छोड़ दी है।

पुरुष—यह क्यों?

कवि—सुनो। जो सत् कवि स्वयं दोष गुण के सार की विवेचना कर सकता है सो भावक नहीं होता। यदि होता भी है तो निर्मत्सर नहीं होता।

तत्त्वाभिनिवेशी भावक तो हज़ार में एक मिलते हैं। बिना भावक के काव्य भी नीरस और निष्फल रह जाता है। वैसे तो घर घर काव्य पड़े हैं। काव्य वही है जो भावकों के हृदय में अंकित हो गया है।

एक दिन राजा भोज के दर्बार में एक कवि और भावक (टीकाकार) में विवाद हुआ। भावक ने कहा "काव्य को भावक ही चमत्कारक और सरस बनाता है"। कवि ने इसे स्वीकार नहीं किया, कहा "यदि काव्य को कवि ने सरस नहीं बनाया तो भावक उसे कैसे सरस बना सकता है"। भावक ने कहा—"अच्छा कुछ काव्य

कहिए" । शाम को बाग़ में लोग टहल रहे थे—हवा चल रही थी। आम का वृक्ष हवा में डोल रहा था। इसी पर कवि ने कहा—

'इयं सन्ध्या, दूरादहमुपगतो हन्त मलयात्
तवैकान्ते गेहे तरुणि वत नेष्यामि रजनीम्।
समीरेणोक्तैवं नवकुसुमिता चूतलतिका
धुनाना मूर्धानं नहि नहि नहीत्येव कुरुते।

अर्थात् वायु ने आम्रलतिका से कहा—'सन्ध्या होगई है मैं दूर मलयगिरि से आ रहा हूँ—तुम्हारे घर में, हे तरुणि, मैं रात भर विश्राम करूँगा। इस प्रकार वायु के कहने पर नई फूली हुई चूतलतिका ने सिर हिलाकर कहा नहीं नहीं नहीं'।

भावक ने पूछा—यहाँ आपने तीन बार 'नहि' पद का प्रयोग क्यों किया ?

कवि ने उत्तर दिया—'यदि मैं तीन बार नहि-पद का प्रयोग न करता तो छन्द में कमी रह जाती"।

भावक—'जी नहीं। तीन बार नहिपद के प्रयोग करने में कवि का आशय यह है कि चूतलतिका का तात्पर्य यह है कि तीन दिन तक तुम मेरे घर न ठहरो। ऐसा गूढ़ आशय समस्त पद्य का है सो 'नवकुसुमिता' तथा 'एकान्त' इन दोनों विशेषणों से भासित होता है।"

यह उदाहरण तो हुआ सरसहृदय भावक का। कुछ भावक तो अपनी भावकता के मद में मत्त होकर शब्दों का ऐस तोड़-मरोड़ करते हैं कि चित्त को विरक्त कर देते हैं। बिहारी का दोहा है—

मानहु मुखदिखरावनी दुलहिन करि अनुराग।
सासु सदन मन ललन हूँ सौतिन दियो सुहाग॥

इसका यथार्थ अर्थ रत्नाकरजी ने यों बतलाया है—नई दुलहिन विवाहित होकर आई है। आते ही उसकी सुघराई तथा शील पर रीझ कर सासु ने घर का प्रभुत्व, नायक ने उसके रूप तथा गुणों पर अनुरक्त होकर अपना मन, एवं सौतों ने अपने को उसके बराबर न समझ कर प्रियतम का प्यार दे दिया। यह सब उसको ऐसे अल्प काल ही में प्राप्त होगया—मानो मुखदिखाई में मिल गया।

यह तो है सीधा और अत्यन्त सरस अर्थ। एक टीकाकार इस अर्थ का ऐसा अनर्थ करते हैं—विदग्धा नायिका अपनी दशा अनागत नायक को सूचित करती है—'मानहु'—मेरी प्रार्थना मान जाओ—'अनुराग करि' प्रेम करके—'मुख दिखराव' अपना मुँह मुझे दिखाओ—क्योंकि 'नींदु लहि न' रात मुझे नींद नहीं आई—आज आने में बाधा नहीं है—क्योंकि 'सासु सदन मन' मेरी सास घर में नहीं हैं और 'ललन हूँ' मेरे स्वामी ने भी—'सौतिन दियो सुहाग' मेरी सौत के पास गये हैं।

भावक सज्जन स्वयं समझ लें इन दोनों में कौन सा अर्थ हृदय-ग्राही है।

एक उदाहरण टीकाकारों के मौलिमाणिक्य मल्लिनाथ का लीजिए।

दुर्योधन पांडवों को वनवास दिलाकर भी सदा उनके डर से चकित रहता है—इस बात का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

> कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः।
> तवाभिधानाद्व्यथते नताननः सुदुस्सहान्मन्त्रपदादिवोरगः॥

इसका सीधा अर्थ यों है—वनेचर युधिष्ठिर से कहता है—"आपस में बातचीत करते हुए लोग जब कभी आपका नाम लेते हैं

तब दुर्योधन अर्जुन के पराक्रम का स्मरण करके सिर नीचा कर लेता है—जैसे प्रबल मन्त्र के प्रभाव से सर्प की फण गिर जाती है।"

टीकाकार ने इस श्लोक में जितने विशेषण हैं सभो को उपमान-उपमेय दोनों में लगाने की गरज से सर्पपक्ष में विशेषणपदों का अर्थ यों करते हैं।

(१) 'मन्त्रपदात् उरगः नतानन:'—'सर्प मन्त्र के प्रभाव से सिर नीचा करता है'—यह मुख्य वाक्य हुआ।

अब विशेषणों को 'मन्त्रपदात्' में लगाता है—पहला विशेषण है 'कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृतात्'—अर्थात् मन्त्र उच्चारित होता है उन लोगों से—'जनैः'—जो 'कथाप्रसङ्गों में'—विषवैद्यों में—'इन' श्रेष्ठ हैं। दूसरा विशेषण है 'तवाभिधानात्' अर्थात् जिस मन्त्र में 'त' (तक्षक) तथा 'व' (वासुकि) के 'अभिधान' नाम हैं। अब एक पद बाकी रहा 'अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः'। इसका 'उरगः' के साथ लगता हुआ अर्थ है—'अनुस्मृत' है—'आखण्डलसूनु' (इन्द्र के छोटे भाई विष्णु) के 'वि' (पक्षी—गरुड़) का 'क्रम' (चलना) जिसको।

ऐसी टीका टीकाकार के पाण्डित्य को अवश्य सूचित करती है—पर सहृदयहृदयग्राहक नहीं होती।

शक्ति से प्रतिभा और व्युत्पत्ति उत्पन्न होती हैं। इनमें प्रतिभा का विवरण हो चुका। 'व्युत्पत्ति' का विचार बाकी है। उचित अनुचित के विवेक को 'व्युत्पत्ति' कहते हैं। प्रतिभा और व्युत्पत्ति में आनन्द ने प्रतिभा को प्रधान माना है। अव्युत्पत्तिकृतदोष तो प्रतिभा के बल से ढक जाते हैं—अप्रतिभाकृतदोष बहुत जल्द व्यक्त हो जाता है। पर मङ्गल ने व्युत्पत्ति ही को प्रधान माना है। पर असल बात यह है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों परस्पर मिल ही

कर प्रधान होती हैं। जैसे विना लावण्य के केवल शरीरसौष्ठव—अथवा विना शरीरसौष्ठव के केवल लावण्य—सच्चा सौन्दर्य नहीं होता।

(५)

प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों जिसमें है वही 'कवि' है। 'कवि' तीन प्रकार के होते हैं—(१) शास्त्रकवि, (२) काव्यकवि, (३) शास्त्रकाव्योभयकवि। कुछ लोगों का सिद्धान्त है कि इनमें सबसे श्रेष्ठ शास्त्रकाव्योभयकवि, फिर काव्यकवि, फिर शास्त्रकवि। पर यह ठीक नहीं। अपने अपने क्षेत्र में तीनों ही श्रेष्ठ हैं—जैसे राजहंस चन्द्रिका का पान नहीं कर सकता पर नीरक्षीरविवेक वही करता है। कोई अपनी सहृदयता ही के द्वारा काव्यमर्म समझता है—कोई काव्य से उत्पन्न सात्त्विकादि अनुभावों के द्वारा समझता है। फिर कोई भावक ऐसा होता है जिसकी दृष्टि केवल दोष ही पर जाती है—किसी की दृष्टि गुणों ही पर—और किसी की दृष्टि जाती है दोनों पर, किन्तु गुणों का तो वह आदर करता है और अवगुणों का परित्याग—जैसा एक पुरानी उक्ति में कहा है—

> गुणदोषौ बुधो गृह्णन् इन्दुक्ष्वेडाविवेश्वरः।
> शिरसा श्लाघते पूर्वं परं कण्ठे नियच्छति॥

पण्डित गुण-दोष दोनों का ग्रहण करके गुण की प्रशंसा करके व्यवहार करते हैं पर दोष को अपने हृदय के भीतर ही डाल देते हैं। जैसे शिवजी ने समुद्रमन्थन-काल में चन्द्रमा और विष दोनों का ग्रहण किया—पर चन्द्र को तो सिर पर रक्खा और विष को शरीर के अन्दर।

चकोर यद्यपि नीरक्षीरविवेक नहीं कर सकता तथापि चन्द्रिका का पान वही कर सकता है। इसी तरह जैसे शास्त्र-कवि के काव्य में रससम्पत्ति नहीं होती उसी तरह काव्यकवि के काव्य

में शास्त्रानुसार तर्क-युक्ति नहीं होती। असल में दोनों बराबर ही हैं—और दोनों को एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता होती है। बात यों है कि शास्त्रज्ञान से जो संस्कार उत्पन्न होता है सो संस्कार काव्यरचना में मदत करती है परन्तु शास्त्र में तन्मय बुद्धि काव्य-रचना में बाधा डालती है। इसी तरह काव्यपरिशीलनजनित संस्कार शास्त्रज्ञान में उपकारक होता है—पर काव्य में तन्मय होना शास्त्रज्ञान में बाधक होता है।

शास्त्रकवि तीन प्रकार के होते हैं—(१) जो शास्त्र का निबन्धन करते हैं—(२) जो शास्त्र में काव्य का सम्मिश्रण करते हैं (जैसे लोलिम्बराज का वैद्यक ग्रन्थ)—(३) जो काव्य में शास्त्रार्थ का सम्मिश्रण करते हैं (जैसे नैषधचरित में दर्शनसर्ग, या शिशुपालवध में राज-नीतिसर्ग)।

काव्यकवि के आठ प्रभेद हैं—(१) रचना-कवि (२) शब्द-कवि (३) अर्थ-कवि (४) अलङ्कार-कवि (५) उक्ति-कवि, (६) रस-कवि (७) मार्ग-कवि (८) शास्त्रार्थ-कवि। (१) रचना-कवि के काव्य में शब्द का चमत्कार रहता है। अनुप्रास, लम्बे समास, आरभटी रीति इत्यादि। (२) शब्द-कवि तीन तरह के होते हैं—एक जो नाम-शब्द (संज्ञा) का प्रचुर प्रयोग करते हैं। दूसरे आख्यात (क्रिया) का अधिक प्रयोग करते हैं। और तीसरे में नाम आख्यात दोनों का प्रचुर प्रयोग रहता है। (३) अर्थ-कवि के काव्य में अर्थ का चमत्कार—(४) अलङ्कार-कवि के काव्य में अलङ्कारों का चमत्कार—(५) उक्ति-कवि के काव्य में उक्ति का चमत्कार—(६) रस-कवि के काव्य में रस का चमत्कार—(७) मार्ग-कवि के काव्य में मार्ग (ढङ्ग) का चमत्कार—और (८) शास्त्रार्थ-कवि के काव्य में शास्त्र के गूढतत्त्वों को सरस रूप में कहने का चमत्कार रहता है।

इन आठों गुणों में से दो या तीन गुण जिस कवि के काव्य में हों वह नीचश्रेणी का कवि है। जिसके काव्य में पाँच गुण हों वह मध्यम श्रेणी का कवि है। जिसके काव्य में सभी गुण हों वह 'महाकवि' है।

कवियों की दस अवस्थायें होती हैं। इनमें सात तो 'बुद्धिमान्' और 'आहार्यबुद्धि' कवियों में और तीन 'औपदेशिक' कवि में। ये दसों अवस्थायें यों हैं—

(१) काव्यविद्यास्नातक—जो कवित्व-सम्पादन की इच्छा से काव्य-विद्या और उपविद्या पढ़ने के लिए गुरु के पास जाता है।

(२) हृदय-कवि—जो मन ही मन काव्य करता है, उसे व्यक्त नहीं करता।

(३) अन्यापदेशी—काव्य-रचना करके कहीं लोग दुष्ट न कह दें इस डर से दूसरे की रचना कह कर प्रकाश करता है।

(४) सेविता—काव्य करने का अभ्यास हो जाने पर पुरवासी कवियों में से किसी एक की रचना को आदर्श मान कर उसका अनुकरण करता है।

(५) घटमान—जो शुद्ध फुटकर कवितायें तो करता है पर कोई प्रबन्ध नहीं रचता।

(६) महाकवि—जो किसी एक तरह का काव्य-प्रबन्ध रचता है।

(७) कविराज—जो अनेक भाषाओं में भिन्न भिन्न रसों के काव्य-प्रबन्धों की रचना करता है। ऐसे कवि संसार में बहुत कम होते हैं।

(८) आवेशिक—जो मन्त्रादि उपदेश के बल से सिद्धि प्राप्त करके जिस समय उस सिद्धि का प्रभाव रहता है तब तक काव्य करता है।

(६) अविच्छेदी—जो जभी चाहे निरवच्छिन्न कविता कर सकता है।

(१०) संक्रामयिता—जो मन्त्र-सिद्धि के बल से अपनी सरस्वती (कवित्व-शक्ति) का कन्याओं या कुमारों में संक्रमण कर सकता है।

मन्त्रसिद्ध कवियों के दो उदाहरण प्रसिद्ध हैं। पर नाम उनका ज्ञात नहीं है। एक वे जो सभाओं में जाकर जो बात करें सब भुजङ्गप्रयात छन्द में। उनकी प्रतिज्ञा होती थी।

अस्यां सभायां ममैषा प्रतिज्ञा भुजङ्गप्रयातैर्विना वाङ्न वाच्या॥

दूसरे काश्मीर राजा की सभा में जाकर शास्त्रार्थ करने लगे—सभी बात पद्यों ही में कहे। उनके प्रतिवादी कई कक्षा के बाद गद्य में बोलते हुए भी शिथिल पड़ने लगे। तब सिद्धजी ने कहा—

> अनवद्ये यदि पद्ये गद्ये शैथिल्यमावहसि।
> तत्किं त्रिभुवनसारा तारा नाराधिता भवता॥

अर्थात्—मेरे अनवद्यपद्यों के सामने गद्य कहते हुए भी आप शिथिल हो चले, सो क्या आपने श्रीतारादेवी की आराधना कभी नहीं की?

कविता के सतत अभ्यास से सुकवि की रचना परिपक्व होती है। कविता का 'परिपाक' क्या है इसमें मतभेद है। वामन का मत है कि जब कविता के शब्द ऐसे ठीक बैठ जायँ जिससे एक अक्षर का भी उलट फेर होने से सब बिगड़ जाय तो उस कविता को 'परिपक्व' समझना। पर अवन्तिसुन्दरी का मत है कि यह तो एक प्रकार की कवि में न्यूनता है कि अपने काव्य को केवल एक ही तरह की शब्द-रचना में निबद्ध कर सकता है। महाकवियों की तो ऐसी शक्ति होती है कि एक ही भाव को नाना प्रकार के शब्दों में प्रदर्शित कर सकते हैं। इसलिए उचित लक्षण यही है कि वर्णनीय रस के योग्य शब्द और अर्थ का निबन्धन जब हो तभी कवित्व को

'परिपक्व' समझना चाहिए। और ऐसा परिपाक हुआ या नहीं इसमें सहृदयों का हृदय ही प्रमाण हो सकता है।

यह परिपाक नव प्रकार का होता है—(१) आदि में और अन्त में जो विरस है उसे 'पिचुमन्दपाक' कहते हैं। (२) आदि में विरस अन्त में मध्यम उसे 'वदरपाक'। (३) आदि में विरस अन्त में सरस उसे 'मृद्वीकापाक'। (४) आदि में मध्यम अन्त में विरस 'वार्ताकपाक'। (५) आदि में और अन्त में मध्यम 'तिन्तिडीपाक'। (६) आदि में मध्यम अन्त में सरस 'सहकारपाक'। (७) आदि में सरस अन्त में विरस 'क्रमुकपाक'। (८) आदि में सरस अन्त में मध्यम 'त्रपुसपाक'। (९) आदि में अन्त में सरस 'नारिकेलपाक'। इनमें (१), (४), (७) सर्वथा त्याज्य हैं। (२), (५), (८) का संशोधन करना। और बाक़ी (३), (६), (९) का ग्रहण करना चाहिए।

(६)

व्याकरणशास्त्र के अनुसार जिसका रूप निर्णीत हो उसे 'शब्द' कहते हैं। निरुक्त-निघंटु-कोश आदि से निर्दिष्ट जो उस शब्द का अभिधेय है—वही उसका 'अर्थ' है। शब्द और अर्थ दोनों मिलकर 'पद' कहलाते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि जब तक हम किसी शब्द का अर्थ नहीं जानते तब तक हमारे लिए वह 'पद' नहीं है। पदों की वृत्ति पाँच प्रकार की है—सुब्वृत्ति, समासवृत्ति, तद्धितवृत्ति, कृद्वृत्ति, तिङ्वृत्ति।

सुब्वृत्ति के भी पाँच भेद हैं। (१) जातिवाचक—'गाय' 'घोड़ा' 'पुरुष' 'हाथी'। (२) द्रव्य (व्यक्ति) वाचक—'हरि', 'हिरण्यगर्भ', 'काल', 'आकाश' 'दिक्'। (३) गुणवाचक—'श्वेत', 'कृष्ण', 'लाल', 'पीला'। (४) असत्त्ववाचक (जो किसी वस्तु का वाचक नहीं है)—जैसे प्रादि उपसर्ग। (५) कर्मप्रवचनीय—'को,' 'पर' इत्यादि। यह पाँच प्रकार की सुब्वृत्ति समस्त वाङ्मय की 'माता' कहलाती हैं।

सुबृवृत्ति ही समासवृत्ति है। भेद इतना ही है कि सुबृवृत्ति में शब्द व्यस्त रूप में—अलग अलग—रहते हैं और समासवृत्ति में समस्त—मिले हुए—रूप में इसके छः भेद हैं। इनके नाम चमत्कार के साथ इस श्लोक में कहे गये हैं—

'द्वन्द्वो द्विगुरपि चाहं मद्गेहे नित्यमव्ययीभावः।
तत्पुरुष कर्मधारय येनाहं स्यां बहुव्रीहिः'॥

इसका व्यंग्य अर्थ ऐसा है—'मैं घर में द्वन्द्व (दो प्राणी, स्त्री-पुरुष) हूँ। द्विगु हूँ (दो बैल मेरे पास हैं)। मेरे घर में नित्य अव्ययी-भाव रहता है (खरचा नहीं चलता)। तत्पुरुष (इसलिए हे पुरुष महाशय) कर्मधारय (ऐसा काम करो) जिससे मैं बहुव्रीहि (अधिक अन्नवाला) हो जाऊँ'। इसी व्यंग्यार्थ के द्वारा छः समासों के नाम भी बतलाये गये हैं।

तद्धितवृत्तियाँ अनन्त हैं। ये वृत्तियाँ प्रातिपादिकसम्बन्धी होती हैं। जैसे 'सिन्धु' से 'सैन्धव', 'लोक' से 'लौकिक' 'मुख' से 'मौखिक' इत्यादि।

कृद्वृत्ति धातु-सम्बन्धी होती है। 'कृ' धातु से 'कर्त्ता, 'हृ' धातु से 'हर्ता' इत्यादि।

'तिङ्वृत्ति'—दसों लकार लट् लिट् इत्यादि द्वारा—दस प्रकार की होती है। इसके भी दो प्रभेद हैं—शुद्ध-धातुसम्बन्धी—जैसे 'करोति' 'हरति' इत्यादि—और नामधातु-सम्बन्धी जैसे 'पल्लवयति' 'पुत्रीयति' इत्यादि।

ये पाँच प्रकार के पद परस्पर अन्वित होकर अनन्त रूप धारण करते हैं। इसी अनन्त रूप के प्रसंग यह उक्ति प्रसिद्ध है कि—'बृहस्पति वक्ता थे, इन्द्र श्रोता, १००० दैवी वर्ष तक कहते रहे—पर—शब्दराशि का अन्त नहीं हुआ'।

विदर्भदेश के वासी अपने बोल-चाल और लेखों में सुबवृत्ति का अधिक अवलम्बन करते हैं—गौडदेशी समासवृत्ति का—दक्षिण-देश-वासी तद्धितवृत्ति का—उत्तर-देशवासी कृद्वृत्ति का—और तिङ्वृत्ति सभी देश में पसन्द है।

जिस अर्थ का कहना इष्ट है उस अर्थ के बोधक पदों के समूह को 'वाक्य' कहते हैं। वाक्य के बोधन प्रकार तीन हैं—वैभक्त, शाक्त, तथा शक्तिविभक्तिमय। प्रतिपद के साथ जो उपपद या कारक विभक्ति लगी हैं उनके द्वारा जो बोध होता है सो 'वैभक्त' है। जहाँ विभक्ति लुप्त हैं—जैसे समासों में—वहाँ जो बोध होता है सो केवल शब्दों के शक्ति द्वारा—इससे इसे 'शाक्त' कहते हैं। जिस वाक्य में दोनों तरह के पद हैं वहाँ शक्तिविभक्तिमय है।

वाक्य के दस भेद हैं:—

(१) एकाख्यात—जिसमें एक ही क्रियापद है।

(२) अनेकाख्यात—जिसमें अनेक क्रियापद हैं। यहाँ अनेक क्रियापद होने के कारण यद्यपि अनेक वाक्य भासित होते हैं तथापि परस्पर सम्बद्ध होने के कारण ये मिलकर एक ही वाक्य समझे जाते हैं।

(३) आवृत्ताख्यात—जिसमें एक ही क्रियापद बारम्बार आया है।

(४) एकाभिधेयाख्यात—जिसमें एक ही अर्थ के कई क्रियापद हैं। जैसे—

हृष्यति चूतेषु चिरं, तुष्यति वकुलेषु, मोदते मरुति।

(५) परिणताख्यात—जिसमें एक ही क्रियापद कई बार आवे पर स्वरूप-भेद से जैसे—

'सोऽस्मिन्जयति जीवातुः पञ्चेषोः पञ्चमध्वनिः।
ते च चैत्रे विचित्रैलाककक्कोलीकेलयोऽनिलाः' ॥

यहाँ 'अनिलाः' का क्रियापद 'जयन्ति' होगा—जो पहली पंक्ति के 'जयति' पद का परिणत रूप है।

(६) अनुवृत्ताख्यात—जिसमें पूर्व वाक्यगत क्रियापद द्वितीय वाक्य के साथ पहले ही स्वरूप में अन्वित होता है। जैसे—

'चरन्ति चतुरम्भोधिवेलोद्यानेषु दन्तिनः।
चक्रवालाद्रिकुञ्जेषु कुन्दभासो गुणाश्च ते'॥

यहाँ 'चरन्ति' क्रियापद का उसी रूप में 'गुणाः' के साथ भी अन्वय है।

(७) समुचिताख्यात—जहाँ एक ही क्रियापद ऐसा चुनकर रक्खा गया जो उपमान उपमेय दोनों में यथावत् लगता है। जैसे—

'परिग्रहभराक्रान्तं दौर्गत्यगतिचोदितम्।
मनो गन्त्रीव कुपथे चीत्करोति च याति च'॥

(८) अध्याहृताख्यात—जहाँ क्रियापद स्पष्ट नहीं है पर अध्याहृत हो सकता है—जैसे

'चन्द्रचूडः श्रिये स वः'

यहाँ 'भूयात्' अध्याहृत है।

(९) कृदभिहिताख्यात—जहाँ क्रियापद का काम कृदन्तपद देता है—जैसे

'अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितम्'

यहाँ 'ईक्षितं समहार्षीत्' की जगह 'ईक्षितं संहृतम्' है।

(१०) अनपेक्षिताख्यात—जहाँ क्रियापद के उल्लेख की आवश्यकता नहीं है। जैसे—

'कियन्मात्रं जलं विप्र'

यहाँ 'अस्ति', 'भवति' का प्रयोजन नहीं है।

गुण और अलंकारसहित वाक्य ही को 'काव्य' कहते हैं। काव्य के लक्षण के प्रसंग ग्रंथों में अनन्त शास्त्रार्थ है। इस विचार का यहाँ अवसर नहीं है।

काव्य के विरुद्ध कई आक्षेप किये जाते हैं।

(१) "काव्यों में प्रायः मिथ्या ही बातों के वर्णन पाये जाते हैं। इसलिए काव्य का उपदेश अनुचित है—

['उपवीणयन्ति परमप्सरसो नृपमानसिंह तव दानयशः।
सुरशाखिमौलिकुसुमस्पृहया नमनाय तस्य यतमानतमाः॥'

मानसिंह की प्रशंसा में कवि कहता है—'अप्सरा लोग आपके दान का यश गाती हैं—क्यों?—कल्पद्रुम की ऊपरवाली डारों में जो फूल लगे हैं उनको वे तोड़ना चाहती हैं—जब तक पेड़ का सिर नीचा नहीं होगा तब तक यह नहीं हो सकता—इसलिए कल्पतरु से अधिक दानी के यश का वर्णन सुनकर उनका माथा अवश्य नीचा होगा फिर फूल चुनना सुकर हो जायगा'। यहाँ सभी बातें मिथ्या हैं—न अप्सरायें ऊपर के फूल चुनना चाहती हैं—न मानसिंह के दानयश को गाती हैं।]

पर यह आक्षेप ठीक नहीं। किसी की स्तुति में यदि अर्थवाद का प्रयोग किया जाय तो वह मिथ्या नहीं कहा जा सकता। विशेष कर जब स्तुत पुरुष स्तुति का पात्र है। और फिर ऐसी काल्पनिक उक्तियाँ तो काव्यों ही में नहीं—श्रुति और शास्त्रों में भी अनेक पाई जाती हैं—जैसे

'यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद्दुष्यति चापशब्दैः॥'

यहाँ कहा है कि जो शुद्ध शब्दों का प्रयोग करता है सो परलोक में अनन्त फल पाता है। यहाँ अत्युक्ति स्पष्ट है।

(२) काव्य के प्रति दूसरा आक्षेप यह है कि काव्यों में असदुपदेश पाये जाते हैं। जैसे कोई व्यभिचारिणी स्त्री अपनी कन्या से कहती है—'न मे गोत्रे पुत्रि क्वचिदपि सतीलाञ्छनमभूत्' (मेरे कुल में कभी पवित्र होने का कलंक नहीं लगा है)।

इसका समाधान यह है—यह केवल उल्टा उपदेश का प्रकार है। सच्चरित्र होना उचित है, इस सीधे उपदेश का उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना उलटे उपदेश की हँसी उड़ाने का। इसी उपदेशप्रकार का अवलम्बन ऐसे श्लोकों में किया जाता है। जैसे—किसी ने अपने मित्र की बड़ी हानि की—तिस पर जिसकी हानि हुई वह कहता है—

उपकृतं बहु मित्र किमुच्यते
सुजनता प्रथिता भवता परा।
विदधदीदृशमेव सदा सखे
सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्॥

'आपने बड़ा उपकार किया—अपनी सज्जनता प्रकट की। ऐसा ही उपकार करते हुए आप चिरंजीवी हों'।

(३) तीसरा आक्षेप काव्य के प्रति यह है कि इसमें अश्लील शब्द और अर्थ पाये जाते हैं।

इसका समाधान यह है—जहाँ जैसा प्रक्रम आ जाय वहाँ वैसा वर्णन करना उचित ही है। अश्लील काव्यों के द्वारा भी अच्छे अच्छे उपदेश हो सकते हैं। और अश्लील वाक्य तो वेदों में और शास्त्रों में भी पाये जाते हैं। फिर काव्यों ही पर यह आक्षेप करना उचित नहीं है।

वाक्य ही को 'वचन' 'उक्ति' कहते हैं। कहनेवालों के भेद के अनुसार वचन तीन प्रकार के माने गये हैं—ब्राह्म, शैव, वैष्णव।

ब्रह्मपुराण आदि पुराणों में जो वचन ब्रह्मा के कहे हुए मिलते हैं उन्हें 'ब्राह्म' कहते हैं। इन ब्राह्म वचनों के पाँच प्रभेद हैं—स्वायम्भुव, ऐश्वर, आर्ष, आर्षीक, आर्षिपुत्रक। 'स्वयम्भू' हैं ब्रह्मा—उनके वचन 'ब्राह्म' हैं। ब्रह्मा के सात मानसपुत्र—भृगु (अथवा वसिष्ठ), मरीचि, अंगिरस्, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु—का नाम है 'ईश्वर'—इनके कहे हुए वचन 'ऐश्वर' हैं। इन ईश्वरों के पुत्र हैं ऋषिगण—इनके वचन हैं 'आर्ष'। ऋषियों की सन्तान हैं ऋषीकगण—इनके वचन हैं 'आर्षिक'। ऋषीकों के पुत्र हैं ऋषिपुत्रक—इनके वचन हैं 'आर्षिपुत्रक'।

इन पाँचों वचनों के लक्षण यों हैं—

(१) सर्वभूतात्मकं भूतं परिवादं च यद् भवेत्।
क्वचिन्निरुक्तमोक्षार्थं वाक्यं स्वायम्भुवं हि तत्॥

अर्थात्—'स्वायम्भुव' वाक्य वह है जो सकल जीव जन्तु के प्रसंग यथावत् उक्ति है और कहीं कहीं मोक्ष का भी साधक है।

(२) व्यक्तक्रममसंक्षिप्तं दीप्तगम्भीरमर्थवत्।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च लक्ष्यतामैश्वरं वचः॥

'ऐश्वर' वचन वह है जिसका क्रम स्पष्ट है—संक्षिप्त नहीं है—उज्ज्वल—गम्भीर—अर्थ से भरा—प्रत्यक्ष भी है और परोक्ष भी।

(३) यत्किञ्चिन्मन्त्रसंयुक्तं युक्तं नामविभक्तिभिः।
प्रत्यक्षाभिहितार्थं च तदृषीणां वचः स्मृतम्॥

'आर्ष' वचन वह है जिसमें कुछ मन्त्र मिले हैं—नाम और विभक्ति से संयुक्त है—और जिसका अर्थ स्पष्ट उक्त है।

(४) नैगमैर्विविधैः शब्दैर्निपातबहुलं च यत्।
न चापि सुमहद्वाक्यमृषीकाणां वचस्तु तत्॥

'आर्षीक' वचन वह है जिसमें वैदिक शब्द नाना प्रकार के हैं—निपात शब्दों का अधिक प्रयोग है—और बहुत विस्तृत नहीं है।

(५) अविस्पष्टपदप्रायं यच्च स्याद् बहुसंशयम्।
ऋषिपुत्रवचस्तत् स्यात् स सर्वपरिदेवनम्॥

'आर्षिपुत्रक' वचन वह है जिसमें बहुत से पद स्पष्ट नहीं हैं—जो बहुत सन्दिग्ध है—और सब लोगों के परिदेवन के सहित है।

इनके प्रत्येक के उदाहरण पुराणों में मिलते हैं।

वचन के विषय में प्राचीन 'सारस्वत' कवियों का सिद्धान्त ऐसा है—

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, गुह, बृहस्पति, भार्गव इत्यादि ६४ शिष्यों के प्रति जो उपदेश वाक्य है उसे 'पारमेश्वर' कहते हैं। वही पारमेश्वर वचन क्रम से देव और देवयोनियों में यथामति व्यवहृत होने पर 'दिव्य' कहलाया। देवयोनि हैं—विद्याधर, अप्सरा, यत्त, रत्तस्, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, गुह्यक, भूत और पिशाच। इनमें पिशाचादि—जो शिव के अनुचर हैं—अपने स्थान में संस्कृत बोलते हैं पर मर्त्य-लोक में जब उनके वचन लिखे जायँगे तो भूतभाषा में। अप्सराओं की उक्ति प्राकृत भाषा में।

यह 'दिव्य' वचन चार प्रकार का होता है—वैबुध, वैद्याधर, गान्धर्व, और योगगिनीगत। इनमें (१) 'वैबुध' वचन समस्त और व्यस्त दोनों प्रकार के पद सहित हैं—शृंगार और अद्भुतरस से पूर्ण-अनुप्रास सहित—और उदार। (२) 'वैद्याधर' वचन अनुप्रास की छाया-मात्र-समेत, चतुर उक्ति से पूर्ण, प्रसादगुणसम्पन्न और लम्बे समाससहित। (३) 'गान्धर्व' वचन बहुत पर छोटे समासों से भरा—जिसके तत्त्वार्थ समझने के लायक हैं। (४) 'योगिनीगत' वचन समास और रूपक से परिपूर्ण—गम्भीर अर्थ और पदक्रम

साहित्य--सिद्धान्तों के अनुसार। 'भौअंग' वचन भी प्रभावशाली होने के कारण 'दिव्य' माना गया है। इसमें प्रसादगुणयुक्त मधुर उदात्तपद समस्त तथा व्यस्तरूप से रहते हैं। इसमें ओजस्वी शब्द नहीं रहते।

इन 'दिव्य' वचनों का उपदेश इसलिए आवश्यक है कि नाटकों में जब कवि इन देवताओं या देवयोनियों की उक्तियों को लिखेगा तो उनके वचन किस प्रकार के होने चाहिए सो जाने विना कैसे लिख सकेगा ?

यह वात प्रसिद्ध है कि मर्त्यलोक में अवतार लेने पर जैसे वचनों में भगवान् वासुदेव की अभिरुचि थी वही 'वैष्णव' वचन है—उसी को 'मानुष' वचन भी कहते हैं।

इस 'वैष्णव' या 'मानुष' वचन के तीन भेद हैं—जिसे तीन 'रीति' कहते हैं। इनके नाम हैं—वैदर्भी, गौडी, पांचाली।

इसके अतिरिक्त 'काकु' अनेक प्रकार की होती है। 'काकु' ध्वनि (उच्चारण) के विकार का नाम है। राजशेखर ने इसका लक्षण लिखा है 'अभिप्रायवान् पाठधर्मः काकुः'—अर्थात् किसी अभिप्रायविशेष से यदि उच्चारण के स्वरादि में कुछ विलक्षण परिवर्तन कर दिया जाय उसी को 'काकु' कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है—साकांक्ष, निराकांक्ष। जिस काकु के समझने में दूसरे वाक्य की अपेक्षा होती है वह काकु साकांक्ष है। जो काकु वाक्य के वाद स्वतन्त्र रूप से भासित हो सो निराकांक्ष है। साकांक्ष काकु तीन प्रकार की है—आक्षेपगर्भ, प्रश्नगर्भ, वितर्कगर्भ। निराकांक्ष काकु भी तीन प्रकार की है—विधिरूप, उत्तररूप, निर्णयरूप। इनके अतिरिक्त मिश्रितकाकु के अनन्त प्रकार हैं। जैसे अनुज्ञा-उपहास-मिश्रित, अभ्युमगम-अनुनय-मिश्रित इत्यादि। जो अर्थ का चमत्कार केवल शब्दों से नहीं निकलता सो काकु से निकलता है।

काव्य प्राय: लोग संस्कृत ही भाषा में करते हैं। पर उसके पढ़ने का ढंग वही जानता जिसके ऊपर सरस्वती की कृपा होती है। और यह पढ़ने का ढंग अनेक जन्म के प्रयास से सिद्ध होता है। प्रसन्नता पर स्वर को मन्द करना उचित है, अप्रसन्नता पर तीव्र। ललित—काकुसहित—उज्ज्वल—अर्थ के अनुसार पदच्छेदसहित सुनने में सुखकर—स्पष्ट—ऐसे पाठ की कवि प्रशंसा करते हैं। अतिशीघ्र—अतिविलम्बित—अधिक उच्च स्वर में—बिलकुल नादहीन—पदच्छेद रहित—बहुत धीमा—ऐसे पाठ की निन्दा होती है। गम्भीरता—अनैश्वर्य—तारमन्द का समुचित प्रयोग—संयुक्त वर्णों की कोमलता—ये पाठ के गुण हैं। जिस पाठ में विभक्तियाँ स्पष्ट हों, समासों में गड़बड़ी न की जाय, पदसन्धि शुद्ध परिस्फुट हो—ऐसा पाठ प्रतिष्ठित समझा जाता है। पढ़ने के समय विद्वान् को चाहिए कि जो पद पृथक् हैं उनको मिला न दें, या जो समस्त हैं उनको अलग न कर दें, और आख्यातपद को मन्द न कर दें। शब्द या शब्दार्थ नहीं भी जानता हो यदि पढ़ने का ढंग अच्छा है तो लोगों को सुनने में अच्छा लगता है।

देशभेद से पढ़ने के ढंग में भेद पाया जाता है। काशी से पूरब मगधादि देशवासी संस्कृत अच्छी तरह पढ़ते हैं—प्राकृत के पढ़ने में ये कुण्ठित हो जाते हैं। गौडदेशवासी प्राकृत गाथा को अच्छी तरह नहीं पढ़ सकते। इनका पढ़ना न अस्पष्ट न खूब स्पष्ट, न रूक्ष न कोमल, न धीमा न ऊँचा है। कोई भी रस हो, कोई भी रीति, कोई भी गुण—कर्णाट देशवासी सभी को गर्व और टंकार के साथ पढ़ते हैं। द्रविडदेशवासी गद्य, पद्य तथा मिश्रित गद्यपद्य सभी को गाने के सुर में पढ़ते हैं। लाट देशवासी संस्कृत से द्वेष रखते हैं वे प्राकृत मधुर रीति से पढ़ते हैं। सुराष्ट्रादि देशवासी संस्कृत में कहीं कहीं अपभ्रंश मिलाकर सुन्दर रीति से पढ़ते हैं। काश्मीरवासी

शारदा के प्रसाद से ऐसे अच्छे ढंग से पढ़ते हैं कि ऐसा मालूम होता है कि उनके में गुड्‌चो का पानी भरा है (!!) उसके आगे उत्तरा-पथ के वासी अधिक सानुनासिक उच्चारण-पूर्वक पढ़ते हैं। पाञ्चाल-प्रान्त-वासियों के पाठ में रीतियों का अनुसरण वर्णरचना का पूर्ण और स्पष्ट उच्चारण, यति के नियमों का परिपालन—ये सब गुण रहते हैं। और उनके सुनने से ऐसा भान होता है कि कान में मधु पड़ रहा है।

अच्छे पाठ का ढंग यही है कि सभी वर्ण अपने अपने समुचित स्थान से उच्चरित हों और अपने समुचित रूप में और उनमें वाक्यों के अर्थ के अनुसार विराम हो।

(७)

काव्यार्थ के—अर्थात् काव्य के विषय के—१६ योनि या मूल हैं—

(१) श्रुति, (२) स्मृति, (३) इतिहास, (४) पुराण, (५) प्रमाण-विद्या—अर्थात् मीमांसा और न्याय-वैशेषिक, (६) समयविद्या—अर्थात् अवान्तर दार्शनिक सिद्धान्त, (७) अर्थशास्त्र, (८) नाट्यशास्त्र, (९) कामसूत्र, (१०) लौकिक, (११) कविकल्पित कथा, (१२) प्रकीर्णक, (१३) उचितसंयोग, (१४) योक्तृसंयोग, (१५) उत्पाद्य-संयोग, (१६) संयोगविकार।

इनके कुछ दृष्टान्त यहाँ दिये जाते हैं—

(१) श्रुति में लिखा है—'उर्वशी ह्याप्सरा: पुरूरवसमैलं चकमे' इतने मूल पर समस्त विक्रमोर्वशी नाटक बना।

(२) स्मृति में नियम लिखा है कि यदि किसी के ऊपर अधिक ऋण का दावा किया जाय—वह सबका इनकार करे—तो वादी यदि ऋण के कुछ भी अंश को प्रमाणित कर सके तो अभियुक्त को कुल दावा देना होगा।

इसी आधार पर विक्रमोर्वशी का यह श्लोक है।

'हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिस्तस्यास्त्वया हृता ।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते' ॥

उर्वशी से वियुक्त राजा हंस को कहता है—'हे हंस मेरी प्रियतमा को तुम दे दो । तुमने उसकी गति ली है । और जब कुछ अंश का लेना तुम्हारा प्रमाणित होगया तब तुम्हें सब दावा चुकाना होगा' ।

(३) इतिहास (रामायण में) रामचन्द्रजी सुग्रीव से कहते हैं—

'न स सङ्कुचितः पन्था येन वाली हतो गतः ।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः' ॥

'अर्थात् जिस मार्ग के आश्रयण से वालि मारा गया उस मार्ग का अनुसरण मत करो अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर रहो' ।

इसी आधार पर यह श्लोक है—

'मदं नवैश्वर्यलवेन लम्भितं विसृज्य पूर्वः समयो विमृश्यताम् ।
जगज्जिघत्सातुरकण्ठपद्धतिर्न वालिनैवाहततृप्तिरन्तकः' ॥

सुग्रीव को लक्ष्मणजी कहते हैं—'अभी जो नया राज्य तुम्हें मिला है इसके मद को त्याग कर पहले जो तुमने प्रतिज्ञा की थी उसका विचार करो । यमराज की संसार-संहारेच्छा केवल बालि के मरने से तृप्त नहीं हुई ।'

(४) पुराणों में लिखा है—'जिन जिन दिशाओं की ओर हिरण्य-कशिपु हँसकर देखता था उन उन दिशाओं को भयभीत देवता लोग नमस्कार करते थे' ।

इसी आधार पर कवि ने लिखा है—

स सञ्चरिष्णुर्भुवनत्रयेऽपि यां
यदृच्छयाऽशिश्रियदाश्रयः श्रियः ।

अकारि तस्यै मुकुटोपलस्खलत्—
करैस्त्रिसन्ध्यं त्रिदशैर्दिशे नमः ॥

इसके प्रसंग में यह कहा गया है कि कवि जैसे जितना वेद, स्मृति, पुराण, इतिहास का आश्रयण करता है वैसे ही उतनी ही प्रशंसा का पात्र होता है।

(५) मीमांसा का सिद्धान्त है कि शब्द का अभिधेय सामान्य—जाति—है—फिर विशेष भी उसका अर्थ हो जाता है—इसी आधार पर कवि कहता है—

'सामान्यवाचि पदमप्यभिधीयमानं
मां प्राप्य जातमभिधेयविशेषनिष्ठम्।
स्त्री काचिदित्यभिहिते सततं मनो मे
तामेव वामनयनां विपयीकरोति' ॥

'सामान्यवाची भी पद मेरे प्रति विशेषवाची हो गया? सामान्यतः स्त्रीपद का प्रयोग जहाँ होता है तहाँ हमको उसी वामनयना (मेरी प्रियतमा) का भान होता है।'

फिर न्याय का यह सिद्धान्त है, कि 'निरतिशय ऐश्वर्य से युक्त हो ही कर ईश्वर जगत् का कर्ता होता है।' इसी आधार पर कवि कहता है—

'किमीहः किं कायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः ॥'

(६) समयविद्याओं में बौद्धसिद्धान्त के आधार पर यह श्लोक है—

'कलिकलुषकृतानि यानि लोके
मयि निपतन्तु विमुच्यतां स लोकः ।
मम हि सुचरितेन सर्वसत्त्वाः
परमसुखेन सुखावनीं प्रयान्तु ॥'

वोधिसत्त्व कहते हैं—'जितने पाप के फल हैं सब मेरे ऊपर गिरें और मेरे जितने पुण्य हैं उनसे संसार के सब प्राणी सुखी होवें'।

(७) अर्थशास्त्र के सिद्धान्त के आधार पर—

'बहुव्याजं राज्यं न सुकरमराजप्रणिधिभिः'

'राजकार्य छल से भरा हुआ है—विना चारों के काम नहीं चल सकता'।

(८) नाट्यशास्त्र के सिद्धान्त के आधार पर—

पार्वती को नृत्य की शिक्षा देते हुए शिवजी की उक्ति—

'एवं धारय देवि वाहुलतिकामेवं कुरुष्वाङ्गकं
मात्युच्चैर्नम कुञ्चयाग्रचरणं मां पश्य तावत्स्थितम् ।'

'हे देवि इस तरह बाहु को फैलाओ—शरीर को ऐसा करो—बहुत नीचे न झुको—पैर को ज़रा मोड़ लो—मैं जैसे खड़ा हूँ सो देखो'।

(९) कामशास्त्र के आधार पर—

'नाश्चर्यं त्वयि यल्लक्ष्मीः क्षिप्त्वाऽधोक्षजमागता ।
असौ मन्दरतस्त्वं तु प्राप्तः समरतस्तया ॥'

'लक्ष्मी विष्णु को छोड़कर जो तुम्हारे पास आई—इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। विष्णु मन्दर पर्वत से आये (मन्द-रत हैं) और तुम समर (लड़ाई) से आये (सम-रत) हो।'

(१०) लौकिक—

पिवन्त्यास्वाद्य मरिचताम्बूलविशदैर्मुखैः ।
प्रियाधरावदंशानि मधूनि द्रविडाङ्गनाः ॥'

'मिर्च और पान से स्वच्छ मुख द्वारा द्रविड स्त्रियाँ अपने प्रियतम के अधरों में लगा हुआ मद्य पीती हैं'।

(११) कवि-कल्पित कथा के आधार पर—

'अस्ति चित्रशिखो नाम खड्गविद्याधराधिपः ।
दक्षिणे मलयोत्सङ्गे रत्नवत्याः पुरः पतिः ॥
तस्य रत्नाकरसुता श्रियो देव्याः सहोदरी ।
स्वयंवरविधावासीत् कलत्रं चित्रसुन्दरी ॥'

'मलय के दक्षिण भाग में रत्नवती नगर के खड्गविद्याधराधिप राजा हैं। रत्नाकर की लड़की लक्ष्मी देवी की सहोदर बहिन चित्र—सुन्दरी नाम की स्वयंवर विधान से उनकी पत्नी हुई।'

(१२) प्रकीर्ण—धनुर्वेद के आधार पर—

'स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं
नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम् ।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं
प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम् ॥'

'शिवजी ने कामदेव को देखा जिस समय कामदेव दक्षिणनेत्र में मुष्टि लगाये कन्धे को झुकाये बायें पैर को मोड़े धनुष खींचे उनको बाण मारने को उद्यत थे।'

(१३) उचितसंयोग के आधार पर—

'पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः
क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन ।

आभाति वालातपरक्तसानुः
सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः' ॥

'पांड्य राजा के कन्धे पर (लाल) माला पड़ी है—और शरीर में हरिचन्दन का लेप लगा हुआ है। मालूम होता है जैसे नवोदित सूर्य के किरणों से लाल शृंग समेत जल के झरनों से सुशोभित हिमालय हों।'

(१४) योक्तृसंयोग—

'कुर्वद्भिः सुरदन्तिनो मधुलिहामस्वादु दानोदकं
तन्वानैर्नमुचिद्रुहो भगवतश्चक्षुः सहस्रव्यथाम्।
मज्जन् स्वर्गतरङ्गिणीजलभरे पङ्कीकृते पांसुभि—
र्यद्यात्राव्यसनं निनिन्द विमनाः स्वर्लोकनारीजनः ॥"

'स्वर्ग की स्त्रियाँ राजा की सवारी से जो उपद्रव हुआ उसकी निन्दा करती गईं। उस सवारी से इतनी धूल उड़ी कि देवताओं के हाथियों की मद-धारा धूल से भरी हुई मधुमक्खियों को कुस्वादु लगने लगी—भगवान् इन्द्र की हज़ारों आँखों में पीड़ा होने लगी—जिस स्वर्गगङ्गा के जल में वे स्त्रियाँ नहाती थीं उसका जल पंकमय होगया।'

(१५) उत्पाद्यसंयोग—

'उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहौ
आकाशगङ्गापयसः पतेताम्।
तेनोपनीयेत तमालनील—
मामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः' ।

'नील आकाश में यदि स्वर्गगङ्गाजल की दो धाराएँ गिरतीं तो उससे भगवान् कृष्ण की मुक्तामालाशोभित वक्षःस्थल की उपमा हो सकती।'

(१६) संयोगविकार—

"गुणानुरागमिश्रेण यशसा तव सर्पता।
दिग्वधूनां मुखे जातमकस्मादर्धकुङ्कुमम् ॥"

'गुणानुराग (लाल) से मिश्रित तुम्हारा (श्वेत) यश जब सर्वत्र फैला तब दिशारूपी स्त्रियों के मुख-कुङ्कुम आधा ही रञ्जित से हुए (आधा श्वेत ही भासित हुआ)।'

काव्य के 'विषय' या 'पात्र' सात प्रकार के होते हैं—

(१) 'दिव्य', स्वर्गीय—जहाँ इन्द्र, शची, अप्सरा इत्यादि के वर्णन स्वर्ग ही के सम्बन्ध में होता है।

(२) 'दिव्यमानुष'—स्वर्गीय होते हुए मर्त्यलोक-सम्बन्धी। इसके चार प्रभेद हैं—

स्वर्गीय पुरुष का मर्त्यलोक में आना तथा मर्त्य पुरुष का स्वर्ग जाना—जैसे शिशुपालवध में नारद का द्वारका आना, अर्जुन का इन्द्र के पास जाना। स्वर्गीय व्यक्ति मर्त्य हो जाय तथा मर्त्य स्वर्गीय हो जाय—जैसे श्रीकृष्ण का अवतार और गंगातट पर मरे हुए मनुष्यों का विमान पर स्वर्ग जाना। स्वर्गीय वृत्तान्त की कल्पना—जैसे दो गन्धर्वों के वार्तालाप की कल्पना। किसी व्यक्ति का स्वर्गीय भाव उनके प्रभाव से आविर्भूत हुआ—जैसे श्रीकृष्ण ने यशोदा की गोद में सोये हुए स्वप्न में कुछ ऐसी बातें कहीं जिससे उनका दिव्य-भाव सूचित हुआ।

(३) मर्त्य (मानुष)—मनुष्यों की घरेलू घटनाओं का वर्णन।

(४) पातालीय—नागलोक में तक्षकादि नागों के चरित्र का वर्णन।

(५) मर्त्यपातालीय—कर्णार्जुन युद्ध में कर्ण के शर में प्रविष्टनाग जब दोबारा उनके पास आया और कहा फिर भी मैं

तुम्हारे शर में प्रवेश करता हूँ तुम उस शर को चलाओ। तब कर्ण (मनुष्य) ने नाग (पातालीय) से कहा कि 'यह समझ रक्खो कि कर्ण दोबारा एक बाण को नहीं चलाता—तुम देखो मैं अभी मामूली मर्त्यलोकसम्बन्धी शरों ही से अर्जुन को मार गिराता हूँ'।

(६) दिव्यपातालीय—शिवजी (दिव्य) के शरीर पर नागराज (पातालीय) का वर्णन।

(७) स्वर्गमर्त्यपातालीय—जनमेजय के सर्पयज्ञ के सम्बन्ध में आस्तीक ऋषि (मनुष्य), तक्षकनाग (पातालीय) और इन्द्र (स्वर्गीय) का वर्णन।

साहित्य का विषय अनन्त तथा निस्सीम है। पर दो प्रभेद में सभी अन्तर्गत होते हैं—'विचारितसुस्थ' तथा 'अविचारितरमणीय'। 'विचारितसुस्थ' दल में सभी शास्त्र हैं और 'अविचारितरमणीय' दल में काव्य। ऐसा उद्भट का सिद्धान्त है। पर तत्त्व यह है कि शास्त्र हो या काव्य, निबन्धन में वही उपयोगी होगा जो जैसा प्रतिभासित (ज्ञात) होगा। और काव्यों में रसयुक्त ही विषय होना चाहिए—नीरस या विरस नहीं। यह अनुभव की बात है कि कई विषय रस को पुष्ट करते हैं और कई उसे बिगाड़ते हैं। पर काव्यों में कवियों की उक्तियों में रसवत्ता शब्दों में है या अर्थों में सो अन्वय-व्यतिरेक ही से ज्ञान हो सकता है। अर्थात् किसी काव्य को देखने या सुनने पर यदि हम देखें कि जो शब्द इनमें हैं ये जहाँ जहाँ रहते हैं वहाँ वहाँ ही रस है—जहाँ ये शब्द नहीं हैं वहाँ रस नहीं है—तो ऐसे स्थल में शब्द ही से रस माना जायगा। जहाँ अर्थ ही के प्रसंग में ऐसा भान होगा तहाँ अर्थ ही से रस माना जायगा। कुछ लोगों का मत है कि वर्णित वस्तु कैसी भी हो—रस का होना या न

होना वक्ता के स्वभाव पर निर्भर होता है। जैसे अनुरागी पुरुष जिसी पदार्थ की प्रशंसा करेगा विरक्त पुरुष उसी की निन्दा करेगा । वस्तु का स्वभाव स्वतः नियत नहीं है चतुर वक्ता की वाक्यशैली पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। ऐसा मत अवन्तिसुन्दरी का है।

इनका कहना है—

'वस्तु स्वभावोऽत्र कवेरतन्त्रो
गुणागुणावुक्तिवशेन काव्ये ।
स्तुवन्निबध्नात्यमृतांशुमिन्दुं
निन्दंस्तु दोषाकरमाह धूर्तः ॥'

कवि वस्तुस्वभाव के अधीन नहीं है। काव्य में वस्तुओं के गुण या दोष कवि की उक्ति पर ही निर्भर रहता है । चन्द्रमा एक ही वस्तु है। पर चतुर कवि जब उसकी प्रशंसा करता है तो उसको अमृतांशु (अमृतमय किरणवाला) कहता है—और जब उसी की निन्दा करता है तो दोषाकर (दोषों का आकर) कहता है' ।

पर असल में दोनों पक्ष ठीक हैं। काव्य का चमत्कार वर्णित वस्तु के स्वभाव पर भी निर्भर होता है और वस्तुओं के दोष-गुण कविकृत वर्णन पर भी निर्भर होते हैं ॥

काव्य का विषय दो प्रकार का होता है—मुक्तकविषय तथा प्रबन्धविषय । इन दोनों के प्रत्येक पाँच पाँच प्रभेद हैं—शुद्ध, चित्र, कथोत्थ, संविधानकभू, आख्यानकवान् । सज्जनों के मनोविनोदार्थ यहाँ उदाहरण मैथिली भाषा के दिये जाते हैं।

(१) मुक्तक-शुद्ध—जिसमें शुद्ध एक मात्र वृत्तान्त है—जैसे

गरभनिवास त्रास हम विसरल पसरल विषयकप्रीति ।

(२) मुक्तक-चित्र—जिसमें वृत्तान्त प्रपञ्च सहित है—

बाँधल छलहुँ गरभघर, जे प्रभु कयल उधार।
तनिक चरण नहि अरचइ, की गुनि गरब अपार ॥
कोन छन की गति होएत, से नहि हृदय विचार।
एकरूप नहि थिररह, विषम विषय संसार ॥
मरमबेधि सहि वेदन, आस तदपि विसतार।
विषय मनोरथ नव नव करम क गति के टार ॥

(३) मुक्तक-कथोत्थ—जहाँ एक वृत्तान्त से उत्थित दूसरा वृत्तान्त है—

हे शिव छुटल हमर मन त्रास।
गिरिजावल्लभ चरणक भेलहुँ अन्तिम वयस में दास ॥
जनम जनम कुकरम जत अरजल—से सभ होइछ हरास।
हमरहु हृदय भक्ति सुरलतिका, अविचल लेल निवास ॥
भन कविचन्द शिवक अनुकम्पा, सब जग शिवमय भास।
उतपति पालन प्रलय महेश्वर, सभ तुअ भृकुटिविलास ॥

(४) मुक्तक-संविधानकभू—जहाँ वृत्तान्त सम्भावित है—

भारी भरोस अहाँक रखैछी, कहैछी महादेव सत्य कथा।
दान कहाँ सकरू कर द्रव्य न, एको देखैछी न पुण्य कथा ॥
अपने दयाक दरिद्र बनी तँ, छूटै कहाँ लोकक आधिव्यथा।
यदि नाथ निरंजन सर्व अहाँ, दुखभार पड़ै किए मोर मथा ॥

(५) मुक्तक-लोकाख्यानकवान्—जिसमें वृत्तान्त परिकल्पित है—

आएल वसन्त वनिजार—पसरल प्रेम पसार
युवयुवती जन आव—हृदय अरपि रस पाव।

(१) निवन्ध-शुद्ध—

कत कत हमर जनम गेल-कयल न सत उपचार।
तकर पराभव अनुभव-भेलहुँ जगत के भार॥
सेवलहुँ हम ने उमावर, केवल छल व्यवहार।
करुणाकर दुख सुनथि न, दुस्सह दुख के टार॥

(२) निवन्ध-चित्र—

अनकर अनुचर बनि हम रहलहुँ, सहलहुँ शिव हे नित अपमान।
अनुचित करम उचित कै जानल, आनल शिव हे पतितक दान॥
धरम सनातन एक न मानल, ठानल शिव हे मलिन प्रमान।
चन्द्र विकल मन पतित के मोर-सन-करु जनु शिव हे हृदय पखान॥

(३) निबन्ध-कथोत्थ—

भल भेल भल भेल त्यागल वास
छुटिगेल मोर मन दुरजन त्रास।
भल भल लोकक वैसव पास
सपनहुँ सुनव न खल उपहास।
मन न रहत मोर कतहु उदास
'शिव' 'शिव' रटव जखनधरि श्वास।

(४) निवन्ध-संविधानकभू

शिव प्रिय अभिनव गीति प्रीति सँ रचितहुँ
शिवतट विगतविकार भक्ति सँ नचितहुँ।
महोदार करुणावतार काँ यचितहुँ
अन्त समय हम काल कराल सं वचितहुँ।
अछि भरोस मन मोर दया प्रभु करता
शरणागत जन जानि सकल दुख हरता।

(५) निबन्ध-आख्यानकवान्—

सखि सखि ललित समय लखु भोर-
नागर नागरि रैनि रंग करि सयन करै पिअ कोर ।
धीवर अंक मयंक तरणि चढ़ि शशिकर जाल पसार
उडुगण मीन वझाय चलत जनि गगनपयोनिधिपार ।

काव्य सभी भाषाओं में हो सकता है। भाव चाहिए । कोई एक ही भाषा में काव्य कर सकता है—कोई अनेक भाषाओं में—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पैशाची इत्यादि ।

एकोऽर्थः संस्कृतोक्त्या स सुकविरचनः प्राकृतेनापरोऽस्मिन्
अन्योऽपभ्रंशगीर्भिः किमपरमपरो भूतभाषाक्रमेण ।
द्वित्राभिः कोऽपि वाग्भिर्भवति चतसृभिः किञ्च कश्चिद् विवेक्तुं
यस्येत्थं धीः प्रपन्ना स्नपयति सुकवेस्तस्य कीर्तिर्जगन्ति ।।

कविचर्या-राजचर्या

कवि का कर्तव्य

(१)

काव्य करने के पहले कवि का कर्तव्य है उपयोगी विद्या तथा उपविद्याओं का पढ़ना और अनुशीलन करना। नामपारायण, धातुपारायण, कोश, छन्द:शास्त्र, अलंकार-शास्त्र—ये काव्य की उपयोगी विद्याएँ हैं। गीत-वाद्य इत्यादि ६४ कलाएँ 'उपविद्या' हैं। इनके अतिरिक्त सुजनों से सत्कृत कवि की सन्निधि (पास बैठना), देशवार्ता का ज्ञान, विदग्धवाद (चतुर लोगों के साथ बातचीत), लोक-व्यवहार का ज्ञान, विद्वानों की गोष्ठी और प्राचीन काव्य-निबन्ध—ये काव्य की 'माताएँ' हैं। आठ काव्य-माताओं का परिगणन इस पद्य में है—

स्वास्थ्यं प्रतिभा ऽभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता।
स्मृतिदार्ढ्यमनिर्वेदश्च मातरो ऽष्टौ कवित्वस्य॥

शरीर स्वस्थ, तीव्र प्रतिभा, शास्त्रों का अभ्यास, देवता तथा गुरु में भक्ति, विद्वानों के साथ वार्तालाप, बहुश्रुतता, [शास्त्रों के अतिरिक्त बहुत कुछ वृद्धजनों से सुन सुनाकर जो ज्ञान उपलब्ध होता है], प्रबल स्मरणशक्ति, अनिर्वेद [प्रसन्न चित्त-खेद से शून्य]—ये आठ काव्य की 'माताएँ' हैं।

इसके अतिरिक्त कवि को सदा 'शुचि' रहना आवश्यक है। 'शौच' तीन प्रकार का है—वाक्शौच, मन:शौच, शरीरशौच।

वाणी की शुद्धि और मन की शुद्धि तो शास्त्रों के द्वारा होती है। शरीर-शुद्धि के सूचक हैं—हाथ पैर के नख साफ़ हों, मुँह में पान, शरीर में चन्दन का लेप, क़ीमती पर सादे कपड़े, सिर पर माला। कवि का जैसा स्वभाव है वैसा ही उसका काव्य होता है। लोगों में कहावत भी है—'जैसा मसव्वर वैसी तसवीर'। कवि को स्मितपूर्वाभिभाषी होना चाहिए—जब बोले हँसता हुआ बोले। बातें गम्भीर अर्थवाली कहे। सर्वत्र रहस्य, असल तत्त्व का अन्वेषण करता रहे। दूसरा कवि जब तक अपना काव्य न सुनावे तब तक उसमें दोषोद्भावन न करे—सुनाने पर जो यथार्थ हो सो कह देवे। कवि के लिए घर साफ़ सुथरा—सब ऋतु के अनुकूल स्थान, नाना वृक्ष-मूल-लतादि से सुशोभित बग़ीचा, क्रीडा-पर्वत, दीर्घिका पुष्करिणी, नहरें, क्यारियाँ, मयूर, मृग, सारस, चक्रवाक, हंस, चकोर, क्रौंच, कुरर, शुक, सारिका—गरमी का प्रतीकार, फ़व्वारे, लता कुञ्ज, झूला इत्यादि अपेक्षित हैं। काव्य-रचना से थक जाने पर—मन की ग्लानि दूर करने के लिए आज्ञाकारी मूक सेवक सहित या एक-दम निर्जन स्थान चाहिए। परिचारक अपभ्रंशभाषा-प्रवीण और परिचारिकाएँ मागधीभाषा-प्रवीण हों। कवि की स्त्रियों को प्राकृत तथा संस्कृत भाषा जाननी चाहिए। इनके मित्र सर्व भाषाज्ञाता हों। कवि को स्वयं सर्व भाषा-कुशल शीघ्रवाक्, सुन्दर अक्षर लिखनेवाला, इशारा समझनेवाला, नाना लिपि का ज्ञाता होना चाहिए। उसके घर में कौन सी भाषा लोग बोलेंगे सो उसी की आज्ञा पर निर्भर होगा। जैसे—सुना जाता है मगध में राजा शिशुनाग ने यह नियम कर दिया था कि उनके अन्तःपुर में ट, ठ, ड, ढ, ऋ, ष, स, ह इन आठ वर्णों का उच्चारण कोई न करे। शूरसेन के राजा कुविन्द ने भी कटुसंयुक्त अक्षर के उच्चारण का प्रतिषेध कर दिया था। कुन्तलदेश में राजा

सातवाहन की आज्ञा थी कि उनके अन्त:पुर में केवल प्राकृत भाषा बोली जाय। उज्जयिनी में राजा साहसांक की आज्ञा थी कि उनके अन्त:पुर में केवल संस्कृत बोली जाय।

पेटी, पाटी, खड़िया, बन्द करने के लायक दावात, रोशनाई, क़लम ताडीपत्र या भूर्जपत्र, तालपत्र, लोहकंटक, साफ़ मजी हुई दीवार,—इतनी चीज़ें सतत कवि के सन्निहित रहनी चाहिए।

सबसे पहले कवि को अपनी योग्यता का विचार कर लेना चाहिए—मेरा संस्कार कैसा है, किस भाषा में काव्य करने की शक्ति मुझमें है, जनता की रुचि किस ओर है, यहाँ के लोगों ने किस तरह की किस सभा में शिक्षा पाई है, किधर किसका मन लगता है, यह सब विचार करके तब किस भाषा में काव्य करेंगे इसका निर्णय करना होगा। पर यह सब भाषा का विचार केवल उन कवियों को आवश्यक होगा जो एकदेशी आंशिक कवि हैं। जो सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हैं उनके लिए जैसी एक भाषा वैसी सब भाषा। पर इनके लिए भी जिस देश में हों उस देश में जिस भाषा का अधिक प्रचार हो उसी भाषा का आश्रयण करना ठीक होगा। जैसे कहा है कि गौडादि देश में संस्कृत का अधिक प्रचार था, लाट देश में प्राकृत का, मरुभूमि में सर्वत्र अपभ्रंश का, अवन्ती, पारियात्र, दशपुर में पैशाची का, मध्यदेश में सभी भाषा का। जनता को क्या पसन्द है क्या नापसन्द है यह भी पता लगा कर जो नापसन्द हो उसका परित्याग करना। परन्तु केवल सामान्य जनता में अपना अपयश सुनकर कवि को आत्मग्लानि नहीं होनी चाहिए, अपने दोष-गुण की परीक्षा स्वयं भी करना चाहिए। इस पर एक प्राचीन श्लोक है—

> धियाऽऽत्मनस्तावदचारु नाचरेत्
> जनस्तु यद्वेद स तद् वदिष्यति।

जनावनायोद्यमिनं जनार्दनं
जगत्क्षये जीव्यशिवं शिवं वदन् ।

अर्थात् "अपनी समझ में अनुचित कार्य नहीं करना। सामान्य जनता का तो जो मन आवेगा कहेगा। जगत् की रक्षा में तत्पर हैं भगवान् विष्णु उनको तो लोग 'जनार्दन' (लोगों को पीड़ा देनेवाला) कहते हैं। और जगत् के संहारकर्ता हैं महादेवजी उनको 'शिव' (कल्याणकारक) कहते हैं"। खासकर प्रत्यक्ष-जीवित कवि के काव्य का सत्कार बहुत कम होता है।

प्रत्यक्षकविकाव्यं च रूपं च कुलयोषितः ।
गृहवैद्यस्य विद्या च कस्मैचिद्यदि रोचते ।।

अर्थात् जीवित कवि का काव्य, कुलवधू का रूप और घर के वैद्य की विद्या—कदाचित् ही किसी को भाती है।

बालकों के, स्त्रियों के और नीच जातियों के काव्य बहुत जल्दी मुख से मुख फैल जाते हैं। परिव्राजकों के, राजाओं के, और सद्यःकवि [तत्क्षण काव्य करनेवाले] के काव्य एक ही दिन में दशोंदिशा में फैल जाते हैं। पिता के काव्य को पुत्र, गुरु के काव्य को शिष्य और राजा के काव्य को उनके सिपाही इत्यादि बिना विचारे पढ़ते हैं और तारीफ़ करते हैं।

कवियों के लिए और कई नियम बताये गये हैं। जब तक काव्य पूरा नहीं हुआ है तब तक दूसरों के सामने उसे नहीं पढ़ना। नवीन काव्य को अकेले किसी आदमी के सामने नहीं पढ़ना। इसमें यह डर रहता है कि वह आदमी उस काव्य को अपना कहकर ख्यात कर देगा—फिर कौन साक्षी दे सकेगा कि किसकी रचना है? अपने काव्य को मन ही मन उत्तम न समझ बैठना, न उसका डींग हाकना। अहंकार का लेशमात्र भी सभी संस्कारों को

नष्ट कर देता है। अपने काव्य को दूसरों से जँचवाना। यह बात प्रसिद्ध है कि गुण दोष जैसे पक्षपात-रहित उदासीन पुरुष को जँचते हैं वैसे स्वयं काम करनेवाले को नहीं। जो अपने को बड़ा कवि लगावे उसकी रुचि के अनुसार उसके चित्त को प्रसन्न कर देना ही ठीक है—फिर अपने काव्य को ऐसे कविम्मन्य के सामने नहीं पढ़ना। एक तो वह उसका गुण ग्रहण नहीं करेगा, दूसरा यह भी सम्भव है कि वह उसे अपना कहकर ख्यात कर दे।

कवि के लिए काल के हिसाब से कार्यक्रम के भी नियम बनाये गये हैं। दिन को और रात को चार चार पहरों में बाँटना। प्रातः-काल उठकर सन्ध्या-पूजा करके सारस्वतसूक्त पढ़ना। फिर एक पहर तक विद्याभवन में आराम से बैठ कर काव्योपयोगी विद्या और उपविद्याओं का अनुशीलन करना। ताज़ा संस्कार से बढ़कर प्रतिभा का उद्बोधक दूसरा नहीं है। दूसरे पहर में काव्य की रचना करना। मध्याह्न के लगभग जाकर स्नान करके शरीर के अनुकूल भोजन करना। भोजन के बाद काव्यगोष्ठी का अधि-वेशन। प्रश्नों के उत्तर—समस्या-पूर्ति-मातृकाभ्यास और चित्र-काव्य प्रयोग इत्यादि तीसरे पहर तक करना। चौथे पहर में अकेले या परिमित पुरुषों के सङ्ग बैठकर प्रातःकाल जो काव्य रचा है उसकी परीक्षा करना। रस के आवेश में जो काव्य रचा जाता है उस समय गुण-दोष विवेक करने की बुद्धि नहीं चलती। इसलिए कुछ समय बीतने ही पर स्वरचित काव्य की परीक्षा हो सकती है। परीक्षा करने पर यदि कुछ अंश अधिक भासित हो तो उसे हटाना—जो कमी हो उसकी पूर्ति करना—जो उलटा पलटा हो उसका परिवर्त्तन करना—जो भूल गया हो उसका अनुसन्धान करना। सायं-काल सन्ध्या करना और सरस्वती की पूजा। इसके बाद दिन में जो काव्य परीक्षित और परिशोधित हो चुका है उसको प्रथम पहर

के अन्त तक लिखवाना। द्वितीय तृतीय पहर में सुख से सोना। सुचित्त सोने से शरीर नीरोग रहता है। चतुर्थ पहर में जागना और ब्राह्ममुहूर्त में प्रसन्न मन से सब पुरुषार्थों का परिचिन्तन करना।

काल के हिसाब से भी चार प्रकार के कवि होते हैं। (१) 'असूर्यम्पश्य'—जो गुफाओं के भीतर या भीतर घर में बैठ कर ही काव्य करता है और बड़ी निष्ठा से रहता है—इसकी कविता के लिए सभी काल हैं। (२) 'निषण्ण'—जो काव्य-रचना में तन्मय हो ही कर रचना करता है पर उतनी निष्ठा से नहीं रहता है—इसके लिए भी सभी काल हैं। (३) 'दत्तावसर'—जो स्वामी की आज्ञानुसार ही काव्य-रचना करता है—इसके लिए नियमित काल हैं। जैसे रात के द्वितीय पहर का उत्तरार्ध (जिसे सारस्वत मुहूर्त कहते हैं)। (४) 'प्रायोजनिक'—जो प्रस्ताव विशेष पाकर प्रस्तुत विषय लेकर काव्य-रचना करता है। इसके लिए काल का नियम नहीं हो सकता। जभी कोई विषय प्रस्तुत होगा तभी वह काव्य करेगा।

पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी कवि हो सकती हैं। कारण इसका स्पष्ट है। बुद्धि, मन इत्यादि का संस्कार आत्मा में होता है, और आत्मा में स्त्री पुरुष का भेद नहीं है। कितनी राज-पुत्रियाँ, मन्त्रि-पुत्रियाँ, वेश्याएँ शास्त्रों में पण्डिता और कवि हो गई हैं। शीला-भट्टारिका, विकटनितम्बा, विजयांका तथा प्रभुदेवी—इन चार स्त्रीकवियों के नाम प्रसिद्ध हैं।

जब प्रबन्ध तयार होगया तो उसकी कई प्रतियाँ करा लेनी चाहिए। क्योंकि काव्य-प्रबन्धों के पाँच नाशकारण और पाँच महापद होते हैं। (१) निक्षेप—किसी दूसरे के पास धरोहर रखना। (२) विक्रय—बेचना। (३) दान—किसी को दे डालना।

(४) देशत्याग—स्वयं कवि देश छोड़ कर देशान्तर चला जाय ।
(५) अल्पजीविता—अल्प ही अवस्था में कवि का मर जाना।
ये पाँच काव्य के नाश के कारण होते हैं।

(१) दरिद्रता। (२) व्यसनासक्ति—द्यूत आदि व्यसनों में लगा रहना। (३) अवज्ञा—(४) मन्द भाग्य—(५) दुष्ट और द्वेषियों पर विश्वास—ये पाँच 'महापद' हैं।

'अभी रहने दें फिर समाप्त कर लूँगा'—'फिर से इसे शुद्ध करूँगा'—'मित्रों के साथ सलाह करूँगा'—इत्यादि प्रकार की यदि कवि के मन में चंचलता हो तो इससे भी काव्य का नाश होता है।

[कवियों को तर्कादिशास्त्र का ज्ञान भी आवश्यक है—ऐसा सिद्धान्त राजशेखर का है। ठीक भी यही है। पर कुछ लोगों का कहना है कि तर्कादिशास्त्र का परिशीलन कवित्वशक्ति का बाधक होता है। इसके प्रसंग में एक कथा पंडितों में प्रसिद्ध है। एक बड़े कवि थे—कहने पर तत्क्षण ही श्लोक बना लेते थे। काग़ज़ क़लम की आवश्यकता नहीं होती थी। अभी भी ऐसे कवि हैं जिन्हें 'घटिकाशतक' की उपाधि है—अर्थात् एक घंटा में १०० श्लोक बना लेते हैं। उक्त कवि ने किसी राजा के दरबार में जाकर अपने आशुकवित्व के द्वारा बड़ी प्रतिष्ठा पाई। राजा के सभापंडित को पूछा गया—'आप लोग इतना शीघ्र श्लोक क्यों नहीं बना सकते'? पंडित ने कहा—'जो पंडित शास्त्र पढ़ेगा वह इतना शीघ्र श्लोक नहीं बना सकेगा। इन कवि महाशय को भी यदि शास्त्र पढ़ाये जायँ तो यही दशा होगी'। राजा ने कवि से कहा—'आप कुछ दिन शास्त्र पढ़ कर फिर आइए'। कवि पंडितजी के पास गये। पंडितजी उन्हें तत्त्व-चिन्तामणि का प्रामाण्यवाद पढ़ाने लगे। दस दिन के बाद राजसभा में गये—समस्या दी गई। तो आप लगे सिर

खुजलाने—और कुछ सोच विचार कर कलम कागज़ माँगने लगे। किसी तरह श्लोक बनाया—अच्छा बना'। दस दिन के बाद फिर आये तो बहुत देर तक प्रयत्न करने पर भी प्रस्तुत विषय पर श्लोक नहीं बन सका। बड़ी देर में केवल आधा अनुष्टुप् बना सके।

"नमः प्रामाण्यवादाय मत्कवित्वापहारिणे"—

"मेरी कवित्वशक्ति के नाश करनेवाले प्रामाण्यवाद को नमस्कार"]

तार्किक कवियों में सबसे प्रसिद्ध प्रसन्नराघवनाटककर्ता जयदेव हैं। तार्किक कवि कम होते हैं इस विश्वास को दूर करने के उद्देश्य से इस नाटक में पारिपार्श्वक के द्वारा यह प्रश्न है कि 'ये कवि तार्किक होते हुए भी कवि हैं यह आश्चर्य है'। इस पर सूत्रधार कहता है—'इसमें आश्चर्य क्या है—

येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते।
यैः कान्ताकुचकुड्मले कररुहाः सानन्दमारोपिता-
स्तैः किं मत्तकरीन्द्रकुम्भशिखरे नारोपणीयाः शराः॥

तात्पर्य यह है कि 'जो कवि कोमल काव्य-कला में निपुण है सो क्या कठिन तर्क में निपुण नहीं हो सकता। जो पुरुष अपने हाथों से कोमल केलि करता है सो क्या उन्हीं हाथों से बाण नहीं चला सकता'।

इन्हीं जयदेव की एक और गौरवोक्ति मिथिला में प्रसिद्ध है—

तर्केषु कर्कशधियो वयमेव नान्यः।
काव्येषु कोमलधियो वयमेव नान्यः॥
कान्तासुरञ्जितधियो वयमेव नान्यः।
कृष्णे समर्पितधियो वयमेव नान्यः॥

(२)

क्षेमेन्द्र ने कवित्व-शिक्षा के विषय में एक छोटा सा ग्रन्थ लिख डाला है जिसका नाम 'कविकण्ठाभरण' है। इसके अनुसार शिक्षा की पाँच कक्षायें होती हैं—(१) 'अकवेः कवित्वाप्तिः' कवित्वशक्ति का यत् किञ्चित् सम्पादन। (२) 'शिक्षा प्राप्तगिरः कवेः', पदरचनाशक्तिसम्पादन करने के बाद उसकी पुष्टि करना। (३) 'चमत्कृतिश्च शिक्षाप्तौ'—कविता-चमत्कार। (४) 'गुणदोषोद्गतिः' काव्य के गुण-दोष का परिज्ञान। (५) 'परिचयप्राप्ति'—शास्त्रों का परिचय।

(१) अकवि की कवित्वप्राप्ति के लिए दो तरह के उपाय हैं—'दिव्य'—यथा सरस्वती देवी की पूजा, मन्त्र, जप इत्यादि—तथा 'पौरुष'। पौरुष प्रयत्न के सम्बन्ध में तीन तरह के शिष्य होते हैं। 'अल्पप्रयत्नसाध्य'—थोड़े प्रयत्न से जो सीख जाय। 'कृच्छ्रसाध्य'—जिसकी शिक्षा के लिए कठिन परिश्रम की अपेक्षा है। 'असाध्य'—जिसकी शिक्षा हो ही न सके।

अल्पप्रयत्नसाध्य शिष्य के लिए ये उपाय हैं—

(क) साहित्यवेत्ताओं के मुख से विद्योपार्जन करना। शुष्क तार्किक या शुष्क वैयाकरण को गुरु नहीं बनाना। ऐसे गुरुओं के पास पढ़ने से सूक्ति का विकास नहीं होता।

[शुष्क तार्किक तथा शुष्क वैयाकरण के प्रसंग कई कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। किसी पंडित के पास एक तार्किक और एक वैयाकरण पढ़ता था। दोनों की बुद्धि जाँचने के लिए एक दिन घर में जाकर लेट गये अपनी कन्या को कहा—यदि विद्यार्थी आवें तो कह देना 'भट्टस्य कट्यां शरटः प्रविष्टः' (भट्टजी की कमर में छिपकली पैठ गई है)। व्याकरण का विद्यार्थी आया। कन्या की बात सुनकर वाक्य को व्याकरण से शुद्ध पाकर चला गया।

न्यायशास्त्र का विद्यार्थी आया—उससे भी कन्या ने वही बात कही। पर उसने विचार करके देखा तो समझ गया कि यह तो असम्भव है कि मनुष्य की कमर में छिपकली घुस जाय। गुरुजी बाहर निकले और कहा कि न्यायशास्त्र ही बुद्धि को परिष्कृत करती है निरा व्याकरण नहीं। एक दिन दोनों विद्यार्थी कहीं जा रहे थे। रास्ते में शाम होगई—एक वृक्ष के नीचे डेरा डालकर आग जलाकर एक हंडिये में चावल पानी चढ़ा दिया। वैयाकरण रसोई बनाने लगा। नैयायिक बाज़ार से घृत लाने गया। जब चावल आधा पकने पर हुए तो 'टुभू टुभू' शब्द होने लगा। वैयाकरण ने धातुपाठ का पारायण करके विचारा कि 'टुभू' धातु तो कहीं नहीं है—यह हंडिया अशुद्ध बोल रही है। बस ढेर सा बालू उसमें डाल दिया—बोली बन्द होगई—वैयाकरण प्रसन्न होगये—अशुद्ध शब्दोच्चारण अब नहीं होता। उधर नैयायिक महाशय एक दोना में घृत लेकर आ रहे थे तो उनके मन में यह तर्क उठा कि—इन दोनों वस्तुओं में कौन आधार है, कौन आधेय—अर्थात् घृत में दोना है या दोने में घृत। इस बात की परीक्षा करने के लिए उन्होंने दोने को उलट दिया। घृत ज़मीन पर गिर पड़ा—आप बड़े प्रसन्न हुए कि शङ्का का समाधान होगया—दोना ही घृत का आधार था। डेरे पर पहुँचे तो हंडिया में बालू भरा पाया। पूछने पर वैयाकरण ने जवाब दिया—"यह पात्र अशुद्ध बोल रहा था इससे मैंने इसका मुँह बन्द कर दिया—पर तुम घृत कहाँ लाये हो?" नैयायिक ने कहा, मैंने आज एक बड़े जटिल प्रश्न को हल किया है—"दोना ही घृत का आधार है—घृत दोने का नहीं"। दोनों अपनी अपनी चतुरता पर प्रसन्न होकर भूखे घर लौट आये।]

(ख) व्याकरण पढ़कर—नाम, धातु तथा छन्दों में विशेष परिश्रम करके फिर काव्यों के सुनने में यत्न देना। विशेषकर देशभाषा के

सरस गीत और गाथाओं को बड़े ध्यान से सुनना। इस तरह सरस काव्यों के सुनने से और उनके रसों में मग्न होने से कवित्व का अङ्कुर हृदय में उत्पन्न होता है।

दूसरे दरजे का शिष्य है 'कृच्छ्रसाध्य'। उसके लिए ये उपाय हैं—

कालिदास के सब ग्रन्थों को पढ़ना और उनके एक एक पद, श्लोक-पाद और वाक्यों का एकचित्त होकर परिशीलन करना। कालिदास के पद्यों का कुछ हेर-फेर कर कुछ पद वा पदांश को छोड़कर अपनी ओर से उनकी पूर्ति करना। छन्द के अभ्यास के लिए पहले-पहल बिना अर्थ के ही वाक्यों की छन्दोबद्ध रचना करना—जैसे—

आनन्दसन्दोहपदारविन्दकुन्देन्दुकन्दोदितविन्दुवृन्दम्।
इन्दिन्दिरान्दोलितमन्दमन्दनिष्यन्दनन्दन्मकरन्दवन्द्यम्॥

[इस चाल की शिक्षा आज-कल के एक परम प्रसिद्ध कवि पण्डित की हुई है। बाल्यावस्था ही में उनके पिता ने उनको सरल छन्दों का ज्ञान करा दिया था—फिर उन्हें कहें 'श्लोक बना'। टूटे फूटे शब्दों को जोड़ कर छन्दोबद्ध पद्य बन जाता था—भाषा भी ऊटपटांग ही होती थी। फिर पिताजी उन श्लोकों की टीका बना लेते थे। इस कार्य में पिताजी ऐसे दक्ष थे कि किसी भाषा के कैसे भी वाक्य हों उनका संस्कृत व्याकरण के अनुसार वे अर्थ निकाल लेते थे। रघुवंश के द्वितीय सर्ग की उन्होंने एक टीका लिखी जिसके अनुसार समस्त सर्ग का यह अर्थ निकलता है कि दिलीप वशिष्ठ की गाय को चुरा ले गये। यह टीका सुप्रभात पत्र में छप रही है।]

इसके अनन्तर प्रसिद्ध प्राचीन श्लोकों में हेर फेर कर उनकी प्रकारान्तर से पूर्ति करना। जैसे रघुवंश का पहला श्लोक है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

इसका अनुकरण—

वाण्यर्थाविव संयुक्तौ वाण्यर्थप्रतिपत्तये ।
जगतो जनकौ वन्दे शर्वाणीशशिशेखरौ ॥

तृतीय प्रकार के शिष्य हैं 'असाध्य' । इसके प्रसंग में क्षेमेन्द्र का सिद्धान्त है कि जो मनुष्य व्याकरण या न्यायशास्त्र के पढ़ने से पत्थर के समान जड़ हो गया है—जिसके कानों में काव्य के शब्द कभी नहीं घुसे—ऐसे मनुष्य में कवित्व कभी भी नहीं उत्पन्न हो सकता—कितनी भी शिक्षा उसे दी जाय । दृष्टान्त—

'न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि सन्दर्शितं पश्यति नार्कमन्धः' ।

(२) पद-रचना-शक्ति-सम्पादन करने के बाद उसके उत्कर्ष-सम्पादन के उपाय यों हैं—गणपतिपूजन, सारस्वतयाग करना, तदनन्तर छन्दोबद्ध पद्यरचना का अभ्यास, अन्य कवियों के काव्य को पढ़ना, काव्याङ्ग विद्याओं का परिशीलन, समस्यापूर्ति, प्रसिद्ध कवियों का सहवास, महाकाव्यों का आस्वादन, सौजन्य, सज्जनों से मैत्री, चित्त प्रसन्न तथा वेषभूषा सौम्य रखना, नाटकों के अभिनय देखना, चित्त शृंगाररस में पगा हो, अपने गान में मग्न रहना, लोकव्यवहार का ज्ञान, आख्यायिका तथा इतिहासों का अनुशीलन, सुन्दर चित्रों का निरीक्षण, कारीगरों की कारीगरी को मन लगाकर देखना, कवियों को यथाशक्ति दान देना, वीरों के युद्ध का निरीक्षण, सामान्य जनता के वार्तालाप को ध्यान से सुनना, श्मशान तथा जंगलों में घूमना, तपस्वियों की उपासना, एकान्तवास, मधुर तथा स्निग्ध भोजन, रात्रिशेष में जागना, प्रतिभा तथा स्मरणशक्ति का समुचित

उद्बोधन, आराम से बैठना, दिन में कुछ सोना, अधिक सर्दी तथा गरमी से बचना, हास्यविलास, जानवरों के स्वभाव का परिचय, समुद्र, पर्वत, नदी इत्यादि की स्थिति (भूगोल) का ज्ञान, सूर्य, चन्द्रमा तथा नक्षत्रादि (खगोल) का ज्ञान, सब ऋतुओं के स्वभाव का ज्ञान, मनुष्य-मंडलियों में जाना, देशी भाषाओं का ज्ञान, पराधीनता से बचना, यज्ञमंडपों में, सभागृहों में तथा विद्या-शालाओं में जाना, अपनी उन्नति की चिन्ता न करना, दूसरों ही की उन्नति की चिन्ता करना, अपनी तारीफ़ में संकोच, दूसरों की तारीफ़ का अनुमोदन, अपने काव्यों की व्याख्या करना ("जीवत्कवेराशयो न वर्णनीयः"), किसी से वैर या डाह न करना, व्युत्पत्तिसम्पादन के लिए सभी लोगों का शिष्य होना, किस समय कैसा काव्य पढ़ा जाय अथवा कैसे श्रोताओं को कैसा काव्य रुचिकर होता है इत्यादि ज्ञान—अपने काव्यों का देशान्तर में प्रचार, दूसरों के काव्यों का संग्रह, सन्तोष, याचना नहीं करनां, कहा भी है—

विद्यावतां दातरि दीनता चेत् किं भारतीवैभवविभ्रमेण ।
दैन्यं यदि प्रेयसि सुन्दरीणां धिक् पौरुषं तत् कुसुमायुधस्य ॥

ग्राम्य (गँवार) भाषा का प्रयोग नहीं करना—काव्य-रचना में खूब परिश्रम करना, पर बीच बीच में विश्राम अवश्य करना, नये नये भावों और विचारों के लिए प्रयत्न, कोई अपने ऊपर आक्षेप करे तो उसे गम्भीरता से सह लेना, चित्त में क्षोभ नहीं लाना, ऐसे पदों का प्रयोग करना जिनका समझना सुलभ हो, समस्त तथा व्यस्त पदों का यथोचित यथावसर प्रयोग—जिस काव्य का आरम्भ किया उसे पूर्ण अवश्य करना।

(३) इस तरह जो कवि शिक्षित हो चुका उसके काव्य में चमत्कार या रमणीयता परम आवश्यक है । विना रमणीयता के

काव्य में काव्यत्व नहीं आता। पंडितराज जगन्नाथ ने इसीं लिए काव्य का लक्षण ही ऐसा किया है—'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'। यह रमणीयता दस प्रकार की होती है,

(१) अविचारित-रमणीय, जिस काव्य के आशय समझने या उसके अन्तर्गत रस के आस्वादन में विशेष सोचने की ज़रूरत नहीं होती—जैसे श्रीकृष्ण की मूर्ति के प्रति तुलसीदास की उक्ति—

सीस मुकुट कटि काछनी भले बने हो नाथ।
तुलसी माथा तब नमै धनुष बाण लेहु हाथ॥

इसके आशय तथा अन्तर्गत भक्ति-भाव के समझने में विलम्ब नहीं होता।

(२) विचार्यमाण रमणीय—जिसके रसास्वादन में कुछ सोचने की ज़रूरत होती है। जैसे बिहारी की उक्ति—

मानहु मुख दिखरावनी दुलहिन करि अनुराग।
सासु सदन मन ललनहूँ सौतिन दियो सुहाग॥

इसमें कुछ विचारने ही से अन्तर्गत भाव का बोध होता है। अथवा—

नयना मति रे रसना निज गुण लीन्ह।
कर तू पिय झझकारे अपयस लीन्ह॥

(३) समस्तसूक्तव्यापी—जो सम्पूर्ण कविता में है—उसके किसी एक आध खण्ड में नहीं। जैसे उक्त बिहारी का दोहा। अथवा तुलसीदासजी का दोहा—

उदित उदयगिरिमंच पर रघुवर बालपतंग।
विकसे सन्तसरोजवन हरषे लोचनभृंग॥

यहाँ समस्त दोहा में भाव व्याप्त है—किसी एक खंड में नहीं।

(४) सूक्तैकदेशदृश्य—जो कविता के किसी एक अंश में भासित हो। जैसे कुमारसम्भव के श्लोक में।

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा चान्द्रमसी कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥

पार्वतीजी से वटु कहता है—'कपाली शिवजी के साथ रहने की इच्छा करती हुई तू तथा चन्द्रमा की कला दोनों शोचनीय दशा को प्राप्त हुई'। इस पद्य का समस्त भाव 'कपालिनः' पद में है। शिवजी का सहवास शोचनीय क्यों है ?—क्योंकि वे कपाली हैं, भिखारी हैं। जैसा साहित्य-ग्रन्थों में लिखा है 'कपालिनः' पद के स्थान में यदि उसी अर्थ का पद 'पिनाकिनः' होता तो भाव पुष्ट नहीं होता। हिन्दी में यह एकदेशरमणीयता कवित्तों में अधिक पाई जाती है। यथा—एक कवित्त के पूर्वार्द्ध में विरहिणी वसन्त की शोभा का वर्णन करती हुई अन्त में कहती है—'बिन प्यारे हमें नहि जात सही'। इसका उत्तरार्द्ध यों है—(यह कविता मेरे भाई की है)—पूर्वार्द्ध मुझे स्मरण नहीं है।

'यदुनन्दन आयो अरी सजनी एक औचक में सखि आय कही।
सुनि चौंकि चकी उझकी हरखाय उठी मुसुकाय लजाय रही'।

अथवा पद्माकर का कवित्त—

लपटै पट पीतम को पहिर्यो पहिराय दिये चुनि चूनर खासी....
कान्ह के कान में आँगुरि नाय रही लपटाय लवंगलता सी।

(५) शब्दगतरमणीयता। इसके उदाहरण पद्माकर के काव्य में अधिक पाये जाते हैं—यथा वसन्त-वर्णन—

कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में
क्यारिन में कलिन कलीन किलकंत है।
कहै पदमाकर परागन में पानहूँ में

पानन में पीक में पलाशन पतंग है ।
द्वार में दिशान में दुनी में देश देशन में
देखो दीप दीपन में दीपत दिगंत है ।
वीथिन में व्रज में नवेलिन में वेलिन में
वनन में वागन में वगरयो वसंत है ।

(६) अर्थगतरमणीयता—(रामायण)

तन सकोच मन परम उछाहू
गूढ़ प्रेम लखि परै न काहू ।
जाइ समीप राम छवि देखी
रहि जनु कुँवरि चित्र अवरेखी ।

पद्माकर—

जैसी छवि श्याम की पगी है तेरी आँखिन में
ऐसी छवि तेरी श्याम आँखिन पगी रहै ।
कहै पदमाकर ज्यों तान में पगी हैं त्यौंही
तेरी मुसुकानि कान्ह प्राण में पगी रहै ।
धीर धर धीर धर कीरति किशोरी भई
लगन इतै उतै वरावर जगी रहै ।
जैसी रटि तोहि लागी माधव की राधे ऐसी
राधे राधे राधे रट माधव लगी रहै ॥

यहाँ न शब्द की छटा है न अलंकार का चमत्कार—पर भाव कैसा प्रगाढ़ है !

(७) शब्दार्थोभयगतरमणीयता । (बिहारी ३२)

समरस समर-सकोच-वस विवस न ठिकु ठहराय ।
फिर फिर उझकति फिरि दुरति दुरि दुरि उझकति जाय ॥

यहाँ समानलज्जामदना मध्या का स्वाभाविक चित्र हृदय-ग्राही है। साथ साथ शब्द-लालित्य भी है। तथा पद्माकर—

औरे रस औरे रीति औरे राग औरे रंग
औरे तन औरे मन औरे वन ह्वै गये ॥

(८) अलंकारगत रमणीयता—

कहँ कुम्भज कहं सिन्धु अपारा
सोखेउ सुयश सकल संसारा।
रवि मंडल देखत लघु लागा
उदय तासु त्रिभुवन तम भागा।
मन्त्र परम लघु तासु वस विधि हरि हर सुर सर्व।
महामत्त गजराज कहँ वश कर अंकुश खर्व ॥

कैसी उपमाओं की शृङ्खला है! फिर व्यतिरेक और उत्प्रेक्षा की छटा रामायण ही में—

गिरा मुखर तनु अर्ध भवानी
रति अति दुखित अतनु पति जानी।
विष वारुनी वन्धु प्रिय जेही
कहिय रमासम किमु वैदेही।
जो छविसुधापयोनिधि होई
परम रूपमय कच्छप सोई।
शोभा रजु मन्दर शृंगारू
मथै पाणिपंकज निज मारू।
एहि विधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुखमूल।
तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय समतूल ॥

(९) रसगत रमणीयता। (विहारी १४)

स्वेद सलिल रोमांच कुस गहि दुलहिन अरु नाथ ।
दियो हियौ सँग नाथ के हाथ लिये ही हाथ ॥

आत्मसमर्पण का कैसा सुन्दर चित्र है !

पद्माकर—

चन्दकला चुनि चूनरि चारु दई पहिराय सुनाय सुहोरी
वेंदी विशाखा रची पदमाकर अंजन आँजि समारि कै गोरी ।
लागी जबै ललिता पहिरावन कान्ह को कंचुकि केसर बोरी
हेरि हरे मुसकाय रही अंचरा मुख दै वृषभान-किसोरी ॥

हास्य का भी रमणीय वर्णन पद्माकर ने किया है—

हँसि हँसि भजैं देखि दूलह दिगम्बर को
पाहुनी जे आवै हिमाचल के उछाह में ।
कहै पदमाकर सुकाहूसौं कहै को कहा
जोई जहाँ देखै सो हँसेई तहाँ राह में ।
मगन भयेई हँसैं नगन महेश ठाढ़े
और हँसेऊ हँसो हँस के उमाह में
शीश पर गंगा हँसै भुजनि भुजंगा हँसै
हास ही को दङ्गा भयो नंगा के विवाह में ॥

(१०) रसालङ्कारोभयगतरमणीयता—के भी ये ही उदाहरण हैं ॥

(४) कवि शिक्षा की चौथी कक्षा है गुण-दोष-ज्ञान । यहाँ (१) शब्दवैमल्य (२) अर्थवैमल्य (३) रसवैमल्य ये तीन 'गुण' हैं, और (१) शब्दकालुष्य (२) अर्थकालुष्य (३) रसकालुष्य—ये तीन 'दोष' हैं ।

शब्दवैमल्य । यथा पद्माकर—

राधामयी भई श्याम की मूरत श्याममयी भई राधिका डोलैं ।

शब्दकालुष्य— के उदाहरण वे होंगे जहाँ शृंगार या करुण-रस के वर्णन में विकट वर्णों का प्रयोग होगा—या वीररस के वर्णन में कोमल वर्णों का प्रयोग। इस शब्दवैमल्य का विलक्षण उदाहरण भवभूति के उत्तररामचरित में मिलता है—

यथेन्दावानन्दं व्रजति समुपेढे कुमुदिनी
तथैवास्मिन् दृष्टिर्मम (यहाँ तक मैत्री भाव है इसलिये कोमल शब्द हैं। इसके आगे वीररस है तदनुकूल उद्भटवर्ण हैं)—कलहकामः पुनरयम्
झणत्कारक्रूरक्वणितगुणगुञ्जद्गुरुधनुर्धृत-
प्रेमा वाहुर्विकचविकरालोल्वणरसः ॥

अर्थवैमल्य—(रामायण)—

भोजन समय बुलावत राजा। नहिं आवत तजि बालसमाजा ॥
कौशिल्या जब बोलन जाई। ठुमुकि ठुमुकि प्रभु चलहिं पराई ॥
निगम नेति शिव अन्त न पाई। ताहि धरै जननी हठि धाई ॥
धूसर धूरि भरे तनु आये। भूपति विहँसि गोद वैठाये ॥

गृहस्थ सुख का कैसा हृदयग्राही चित्र है।

अर्थकालुष्य—इसी वर्णन में यदि यह कहा होता कि 'भागते—बालक को पकड़ कर माता ने दो थप्पड़ लगाया—जिस पर बालक चिल्लाने लगा—और पिताजी क्रुद्ध होकर पत्नी को भला बुरा कहने लगे,—तो चित्र बिलकुल कलुषित हो जाता।

रसवैमल्य—विहारी (७०१)—

ज्यौं ह्वै हौं त्यौं होउँगो हौं हरि अपनी चाल।
हठु न करौ, अति कठिनु है मो तारिबो गुपाल ॥

इसी के सदृश पंडितराज जगन्नाथ की उक्ति गंगाजी के प्रति है—

बधान द्रागेव द्रढिमरमणीयं परिकरं
किरीटे बालेन्दुं निगडय दृढं पन्नगगणैः।
न कुर्यास्त्वं हेलामितरजनसाधारणधिया
जगन्नाथस्यायंसुरधुनिसमुद्धारसमयः॥

(३) रसकालुष्य—यथा

काज निबाहे आपनो फिरि आवेंगे नाथ।
बीते यौवन ना कभी फिर आवत है हाथ॥

यौवन की अस्थिरता का वर्णन शृङ्गाररस को कलुषित कर देता है।

(५) कवि शिक्षा की पाँचवीं कक्षा है 'परिचय'। 'परिचय' से यह तात्पर्य है कि कवि को इतने शास्त्रों का परिचय (ज्ञान) आवश्यक है—न्याय, व्याकरण, भरतनाट्यशास्त्र, चाणक्यनीतिशास्त्र, वात्स्यायन-कामशास्त्र, महाभारत, रामायण, मोक्षोपाय, आत्मज्ञान, धातुविद्या, वादशास्त्र, रत्नशास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष्, धनुर्वेद, गजशास्त्र, अश्वशास्त्र, पुरुषलक्षण, द्यूत, इन्द्रजाल, प्रकीर्णशास्त्र।

अर्थात् बिना सर्वज्ञ हुए कवि होना असम्भव है॥

यह तो हुआ राजशेखर तथा क्षेमेन्द्र के अनुसार कवियों की शिक्षा और उनके कर्त्तव्य।

(२)

राजा का कर्त्तव्य यह है कि कवि-समाज का आयोजन करे। इसके अधिवेशन के लिए एक सभा—Hall—बनना चाहिए। जिसमें सोलह खम्भे चार द्वार और आठ मत्तवारणी (अटारियाँ) हों। इसी में लगा हुआ राजा का क्रीड़ा-गृह रहेगा। सभा के बीच में चार खम्भों को छोड़कर एक हाथ ऊँचा एक चबूतरा होगा। उसके

ऊपर एक मणि-जटित वेदिका। इसी वेदिका पर राजा का आसन होगा। इसके उत्तर की ओर संस्कृत भाषा के कवि बैठेंगे। यदि एक ही आदमी कई भाषा में कवित्व करता हो तो जिस भाषा में उसकी अधिक प्रवीणता होगी वह उसी भाषा का कवि समझा जायगा। जो कई भाषाओं में बराबर प्रवीण है वह उठ उठ कर जहाँ चाहे बैठ सकता है। इनके पीछे वैदिक, दार्शनिक, पौराणिक, स्मृतिशास्त्री, वैद्य, ज्योतिषी इत्यादि। पूरब की ओर प्राकृत-भाषा के कवि। इनके पीछे नट, नर्तक, गायन, वादक, वाग्जीवन ('वाक्' 'बोलना' से जिनकी जीविका हो, Professional Lecturer, आज कल के उपदेशक), कुशीलव, तालावचर (ताल देनेवाला—तबला या मृदंगवाला) इत्यादि। पश्चिम की ओर अपभ्रंश भाषा के कवि—इनके पीछे चित्रकार, लेपकार, मणि जड़नेवाले, जौहरी, सोनार, बढ़ई, लोहार इत्यादि। दक्षिण की ओर पैशाची भाषा के कवि। इनके पीछे वेश्यालम्पट, वेश्या, रस्सों पर नाचनेवाला, जादूगर, जम्भक (?), पहलवान, सिपाही इत्यादि।

इस सभा में काव्यगोष्ठी करके राजा काव्यों की परीक्षा करेगा। वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक, साहसाङ्क इत्यादि प्राचीन राजाओं की चलाई हुई व्यवस्था के अनुसार यह परीक्षा होगी। सभा में बैठनेवाले सब हृष्ट-पुष्ट होंगे। सभा ही में पारितोषिक भी दिये जायँगे। यदि कोई काव्य लोकोत्तर चमत्कार का निकले तो तदनुसार ही उस कवि का सम्मान होगा। ऐसी गोष्ठियाँ लगातार नहीं होंगी। कुछ दिनों के अन्तर पर हुआ करेंगी। [दरभंगा के भूतपूर्व महाराज लक्ष्मीश्वरसिंह प्रति सोमवार पंडितों की ऐसी सभा करते थे]। इन गोष्ठियों में काव्य-रचना तथा शास्त्रार्थ हुआ करेंगे। काव्य और शास्त्र की चर्चा समाप्त होने पर विज्ञानियों की बारी आवेगी। देशान्तर से जो विद्वान् आवें उनका शास्त्रार्थ देशी

पंडितों के साथ कराकर यथायोग्य पुरस्कार दिये जायँगे । इनमें यदि कोई नौकरी चाहें तो उनको रख लेना उचित है ।

इस व्यवहार का अनुसरण राजकर्मचारी भी यथाशक्ति करेंगे । [अकबर के समय में राजा मानसिंह तथा टोडरमल के मकान में पंडितों की सभा हुआ करती थी ।]

बड़े बड़े शहरों में काव्यशास्त्र-परीक्षा के लिए ब्रह्मसभा की जायगी । इसमें जो लोग परीक्षोत्तीर्ण होंगे उनको 'ब्रह्मरथयान' तथा 'पट्टबन्ध' पारितोषिक मिलेगा । यह सम्मान उज्जयिनी में कालिदास, मेंठ, अमर, रूपसूर, भारवि, हरिचन्द्र, चन्द्रगुप्त का—और उससे भी पहले पाटलिपुत्र में उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि, पतंजलि का हुआ था । रथ पर बैठाकर पंडित को राजा स्वयं उस रथ को खींचकर ले जाते थे इसे 'ब्रह्मरथयान' कहते हैं । सोने का मुकुट या बहुमूल्य पगड़ी पंडित के सिर पर बाँधी जाती थी— इसे 'पट्टबन्ध' कहते हैं ।

पेशवाओं के समय में जिस पंडित पर पेशवा अधिक प्रसन्न होते थे उसे एक लाख दक्षिणा देकर पालकी पर बिठाकर उसमें स्वयं अपना कंधा लगाकर विदा करते थे । ऐसा सत्कार मैथिल-नैयायिक सचल मिश्र का पूना में हुआ था । इनके प्रपौत्र अभी वर्तमान हैं । जबलपुर ज़िला में भूमि भी इनको दी गई जो अब तक इनके सन्तान के हाथ में है ।

यह तो हुआ राजा-द्वारा पंडित-परीक्षा की व्यवस्था । जनता-कृत पांडित्य-परीक्षा की प्रथा मिथिला में १५०, २०० वर्ष पहले तक थी । जब कोई पंडित देश-देशान्तर से धन-प्रतिष्ठा लाभ कर अपने देश लौटता था तब यदि वह अपने को तद्योग्य समझता था तो अपने देशवालों को कहता था—अब मैं सर्वत्र से प्रतिष्ठा लाभ कर आया

हूँ । पर 'किं तया हृतया राजन् विदेशगतया श्रिया अरयो यां न पश्यन्ति यां न भुञ्जन्ति वान्धवाः'

उन्नति जो परदेश में सो उन्नति केहि काज ।
जाके शत्रु न देखिहैं बन्धु न आवत काज ॥

इसलिए मुझे अपने देश की प्रतिष्ठा की लालसा है । इस देश के सबसे ऊँची प्रतिष्ठा 'सरयन्त्र' की है। यह परीक्षा मेरी हो यह मेरी अभिलाषा है। इस परीक्षा का क्रम यह था। पहले तो देश भर के पंडित कठिन से कठिन प्रश्न पूछते थे--केवल एक शास्त्र का नहीं सभी शास्त्रों का। इन सब प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देना पड़ता था। पंडित लोगों के सन्तुष्ट हो जाने पर सामान्य जनता प्रश्न पूछती थी। जिसके जो मन आता था पूछता था। सभों का सन्तोषजनक उत्तर करना पड़ता था। सभी लोग एक एक कर सन्तुष्ट हो गये तब यह प्रतिष्ठा मिलती थी। इस 'सरयन्त्र' पद का अर्थ क्या है सो अब किसी को मालूम नहीं है। पर प्रथा का नाम तक अब भी प्रसिद्ध है। दो सौ बरस हुए गोकुलनाथ उपाध्याय एक बड़े पंडित हुए—उनके रचित ग्रन्थ—न्याय, वेदान्त, साहित्य, काव्य, ज्योतिष, कर्मकांड के अब तक मिलते हैं—यहाँ तक कि एक ग्रन्थ इनका 'पारसीप्रकाश' नाम का है, जिसमें फारसी शब्दों के अर्थ संस्कृत में दिये हैं। इनकी सरयन्त्र परीक्षा हुई। इसमें इनसे पूछा गया—'विष्ठा का स्वाद कैसा है'? कुछ विचार कर इन्होंने उत्तर दिया 'कटु'—। 'यह कैसे विश्वास करूँ?' प्राश्निक ने पूछा। उत्तर मिला, 'सूअर जब विष्ठा खाता है तब उसकी आँखों से आसू बहता है, यह केवल कटु पदार्थ ही के खाने से होता है'। पूछनेवाला सन्तुष्ट होगया।

मिथिला में जब से पंडिताई की दक्षिणा में राज्य मिला तब से पंडितों की परीक्षा महाराज के दरबार में होती है। दरबारी प्रधान

पंडित परीक्षा लेते हैं—उत्तीर्ण पंडितों को महाराज के सामने शास्त्रार्थ करना पड़ता है। पारितोषिक में प्रतिष्ठासूचक एक जोड़ा धोती का मिलता है—और महाराज की ओर से या और मिथिलास्थ धनियों की ओर से जब कभी पंडितों का निमन्त्रण होगा तो इन्हीं धोतीवालों का होगा। यह प्रथा अब तक जारी है।

(३)

दूसरों के रचित शब्द और अर्थ का अपने प्रबन्ध में निवेश करना 'हरण' 'चोरी' 'Plagiarism' कहलाता है।

शब्द की 'चोरी' पाँच प्रकार की होती है—एक पद का, श्लोक के एक पाद का, श्लोक के दो पादों का, सम्पूर्ण श्लोक का, सम्पूर्ण प्रबन्ध का।

परप्रयुक्त पदों का बचाना असम्भव है। इसी तात्पर्य से कहा है—

नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः।
उत्पादकः कविः कश्चित् कश्चिच्च परिवर्तकः॥
आच्छादकस्तथा चान्यस्तथा संवर्गकोऽपरः।

अर्थात्—कोई भी बनिया ऐसा नहीं जो चोर नहीं है, कोई भी कवि ऐसा नहीं जो चोर नहीं है। कोई कवि 'उत्पादक' होता है, नई रचना करता है, कोई 'परिवर्तक', अर्थात् दूसरों की रचना में फेर-बदल कर अपना बनाता है, कोई 'आच्छादक', अर्थात् दूसरों की रचना को छिपाकर तत्सदृश अपनी रचना का प्रचार करता है, कोई 'संवर्गक', अर्थात् डाकू, खुल्लमखुल्ला दूसरे के काव्य को अपना कहकर प्रकाश करता है।

इस विषय में पण्डितों में यह श्लोक प्रसिद्ध है—

'कविरनुहरतिच्छायामर्थं कुकविः पदादिकं चैारः ।
सर्वप्रबन्धहर्त्रे साहसकर्त्रे नमस्तस्मै ॥'

अर्थात् जो दूसरों के काव्य की छाया-मात्र का अनुकरण करता है सो 'कवि' है। जो अर्थ या भाव का अनुकरण करता है सो 'कुकवि' है। जो पदवाक्यादि का अनुकरण करता है सो 'चोर' है। जो समस्त प्रबंध, पदवाक्य, अर्थ, भाव सभी का अनुकरण करता है ऐसे साहस करनेवाले को नमस्कार है ॥"

इस सम्बन्ध में कविकण्ठाभरण में छः दर्जे के कवि कहे गये हैं—

"छायोपजीवी, पदकोपजीवी, पादोपजीवी सकलोपजीवी ।
भवेदथ प्राप्तकवित्वजीवी स्वोन्मेषतो वा भुवनोपजीव्यः ॥"

अर्थात्—(१) दूसरे के काव्य की छाया-मात्र लेकर जो कविता करे। (२) एक आध पद लेकर (३) श्लोक का एक पाद लेकर (४) समग्र श्लोक लेकर (५) जो कवि शिक्षा प्राप्त कर ऐसी शिक्षा के बल से कविता करे (६) अपनी स्वाभाविक प्रतिभा के बल कविता करे ॥

कुछ लोगों का कहना है कि प्राचीन कवियों के काव्यों का भलीभाँति परिशीलन करने की आवश्यकता है क्योंकि यही एक उपाय है कि परोच्छिष्ट भावों को हम बचा सकें—या उन भावों को हम उलट फेर कर अपने काव्य में उपयोग कर सकें। पर असल में कवि की प्रतिभा अवाङ्मनसगोचर दृष्ट तथा अदृष्ट वस्तुओं को जान लेती है—और उनका उचित-अनुचित विभाग भी कर लेती है। कवियों के ऊपर सरस्वतीजी की ऐसी कृपा है कि जो वस्तु और लोगों के लिए जाग्रत् अवस्था में अदृश्य है सो भी कवियों को

स्वप्नावस्था में भासित हो जाता है। इसी कृपा के प्रसाद से दूसरों के शब्द और भाव के प्रसंग में कवि अन्धा होता है—उनके अतिरिक्त में उनकी दिव्य दृष्टि होती है। कवियों के मतिदर्पण में समस्त संसार प्रतिबिम्बित होता है। शब्द और अर्थ सभी कवियों के सामने स्वयं उपस्थित होते रहते हैं, इस आशा से कि कविजी मेरा ही ग्रहण करेंगे।

इतना होते हुए भी कवियों को तीन प्रकार के अर्थ जानने का प्रयत्न करना होगा। ये तीन हैं—अन्ययोनि, निह्नुतयोनि और अयोनि। इनमें 'अन्ययोनि', जिसकी उत्पत्ति दूसरों से हैं, दो प्रकार के होते हैं, 'प्रतिबिम्बकल्प' (अर्थात् प्रतिबिम्ब के सदृश) और 'आलेख्यप्रख्य' (अर्थात् चित्र के सदृश)। 'निह्नुतयोनि' भी दो प्रकार का है, तुल्यदेहितुल्य और परपुरप्रवेशसदृश। 'अयोनि' के ग्यारह भेद हैं।

जिसमें अर्थ बिलकुल वही है केवल शब्द-रचना का भेद है उसे 'प्रतिबिम्बकल्प' कहते हैं। जिसमें थोड़ा सा हेर-फेर इस चतुराई के साथ किया गया है कि वही भाव नवीन सा मालूम होता है—उसे 'आलेख्यकल्प' कहेंगे। दृष्टान्त—

> ते पान्तु वः पशुपतेरलिनीलभासः
> कण्ठप्रदेशघटिताः फणिनः स्फुरन्तः।
> चन्द्रामृताम्बुकणसेकसुखप्ररूढै-
> र्यैरङ्कुरैरिव विराजति कालकूटः॥

(प्राचीन)

इसका 'प्रतिबिम्बकल्प' अनुकरण होगा—

> जयन्ति नीलकण्ठस्य नीलाः कण्ठे महाहयः।
> गलद्गङ्गाम्बुसंसिक्तकालकूटाङ्कुरा इव॥

श्रौर 'श्रालेख्यप्रख्य' अनुकरण होगा—

जयन्ति धवलव्यालाः शम्भोर्जूटावलम्बिनः ।
गलद्गङ्गाम्बुसंसिक्तचन्द्रकन्दाङ्कुरा इव ॥

जहाँ पर दोनों उक्तियों में इतना सादृश्य हो कि भेद रहते हुए अभेद ही भासित हो, उसे 'तुल्यदेहितुल्य' कहते हैं।

जहाँ दो उक्तियों का मूल एक हो पर श्रौर वातें सव भिन्न हों—उसे 'परपुरप्रवेशसदृश' कहते हैं।

परोक्तिहरण के नाना प्रभेद के श्राधार पर कवि के ये चार प्रभेद माने गये हैं। पाँचवाँ वह है जिसे 'श्रदृष्टचरार्थदर्शी' कहते हैं, अर्थात् जिसने ऐसी वातें कहीं जो श्रौर किसी ने कभी नहीं कही। पहिले चार 'लौकिक' हैं, पाँचवाँ 'श्रलौकिक'। चारों लौकिक कवि के नाम हैं, 'भ्रामक', 'चुम्बक', 'कर्षक', 'द्रावक'। श्रलौकिक का नाम है 'चिन्ता-मणि'। (१) पुरानी वात को भी जो नई समझ कर प्रदर्शित करे वह 'भ्रामक कवि' है। (२) जो दूसरे की कही वात को थोड़ा स्पर्श करती हुई अपनी उक्तियाँ कहे सो 'चुम्बक' है। (३) दूसरे की उक्ति को खींच कर जो अपने प्रवन्ध में किसी लेख के द्वारा घुसेड़े सो 'कर्षक' है। (४) जो दूसरी की उक्ति के मूलार्थ का सार लेकर अपनी उक्ति में इस प्रकार कहे कि प्राचीन रूप उसका जाना न जाय सो 'द्रावक' है। (५) जिसके भाव रस उत्पन्न करनेवाले हैं श्रौर जिस भाव का ज्ञान किसी भी प्राचीन कवि को नहीं हुश्रा—उसे 'चिन्तामणि कवि' कहते हैं।

जिसके भाव 'श्रयोनि' हैं अर्थात् विलकुल नये ऐसे कवि के तीन प्रभेद हैं—लौकिक, श्रलौकिक, लौकिक-श्रलौकिक—मिश्रित ॥

भ्रामक, चुम्बक, कर्षक, द्रावक इन चारों के प्रत्येक आठ आठ अवान्तर भेद हैं। इससे कुल संख्या ३२ होती है। ये आठ अवान्तर भेद ये हैं।

(१) पुरानी उक्ति के दो अंशों के पौर्वापर्य को बदल देना—इसे 'व्यस्तक' कहते हैं।

(२) पुरानी उक्ति लम्बी चौड़ी है—उसमें से कुछ अंश ले लेना—इसे 'खण्ड' कहते हैं।

(३) पुरानी उक्ति संक्षिप्त है उसी को विस्तृत रूप में कहना—इसे 'तैलविन्दु' कहते हैं। इसका उदाहरण है—

(प्राचीन)—

'यस्य तन्त्रभराक्रान्त्या पातालतलगामिनी।
महावराहदंष्ट्राया भूयः सस्मार मेदिनी॥'

(नवीन)—

'यत्तन्त्राक्रान्तिमज्जत्पृथुलमणिशिलाशल्यवेल्लत्फणान्ते
क्लान्ते पत्यावहीनां चलदचलमहास्तम्भसम्भारभीमा।
सस्मार स्फारचन्द्रद्युतिपुनरवनिस्तद्धिरण्याक्षवक्षः-—
स्थूलास्थिश्रेणिशाणानिकषणसितमप्याशु दंष्ट्राग्रमुग्रम्' ॥

(४) पुरानी उक्ति जिस भाषा में है उसी को दूसरी भाषा में कहना—इसे 'नटनेपथ्य' कहते हैं।

(५) केवल छन्द बदल देना—इसे 'छन्दोविनिमय' कहते हैं।

(६) पुरानी उक्ति में जो किसी वृत्तान्त का कारण कहा गया है उस वृत्तान्त का दूसरा कारण कहना—इसे 'हेतुव्यत्यय' कहते हैं।

(७) देखी हुई वस्तु को अन्यत्र ले जाना—यह 'संक्रान्तक' है।

(८) दोनों वाक्यार्थों का उपादान है 'सम्पुट'।

इस तरह के परोक्ति का अपहरण कवि को 'अकवि' बना देता है। इससे यह सर्वथा त्याज्य है ॥

ये सब प्रभेद 'प्रतिबिम्बकल्प' के हैं। 'आलेख्यप्रख्य' रूप अपहरण के निम्नलिखित भेद हैं—

(१) 'समक्रम'—प्राचीन उक्ति के सदृश रचना करना।

(२) 'विभूषणमोष'—प्राचीन उक्ति में जो अलंकार समेत है उसे अलंकार-रहित बनाकर कहना।

(३) 'व्युत्क्रम'—प्राचीन उक्ति में जिस क्रम से बातें कही हैं उनको क्रम बदल कर कहना।

(४) 'विशेषोक्ति'—प्राचीन उक्ति में जो सामान्यरूप से कहा है उसे विशेषरूप से कहना।

(५) 'उत्तंस'—जो उपसर्जनभाव से कहा है उसे प्रधानभाव से कहना।

(६) 'नटनेपथ्य'—बात वही कहना पर थोड़ा बदल कर।

(७) 'एकपरिकार्य'—जो प्राचीन उक्ति में कारण-सामग्री कहा है सो ही सामग्री कहना पर कार्य दूसरा बदल देना।

(८) 'प्रत्यापत्ति'—जो विकृतिरूप से कहा है उसे प्रकृतिरूप में कहना।

ये मार्ग ऐसे हैं जिनका अवलम्बन अनुचित नहीं है।

'तुल्यदेहितुल्य' अर्थहरण के भेद यों हैं।

(१) 'विषयपरिवर्त'—पहले कहे विषय में विषयान्तर मिलाकर उसका स्वरूपान्तर कर देना।

(२) 'द्वन्द्वविच्छित्ति'—जिस विषय का दो रूप वर्णित पहले का है उसका एक ही रूप लेकर वर्णन करना।

(३) 'रत्नमाला' प्राचीन अर्थों का अर्थान्तर करना।

(४) 'संख्योल्लेख'—एक ही विषय की पूर्वोक्त संख्या को बदल देना।

(५) 'चूलिका'—पहले जो सम कहा गया—उसे विषम कहना। या पहले जो विषम कहा गया उसे सम कहना।

(६) 'विधानापहार'—निषेध को विधि रूप में कहना।

(७) 'माणिक्यपुञ्ज'—बहुत अर्थों का एकत्र उपसंहार।

(८) 'कन्द'—कन्द (समष्टि) रूप अर्थ को कन्दल (व्यष्टि) रूप में कहना। इस मार्ग का भी अवलम्बन उचित है।

'परपुरप्रवेश' रूप अर्थापहरण के भेद यों हैं।

(१) 'हुडयुद्ध'—एक प्रकार से उपनिबद्ध वस्तु को युक्ति-पूर्वक बदल देना। उदाहरण—

(प्राचीन)—

कथमसौ न भजत्यशरीरतां
हतविवेकपदो हतमन्मथः।
प्रहरतः कदलीदलकोमले
भवति यस्य दया न वधूजने॥

कोमल स्त्री शरीर पर प्रहार करने के कारण यहाँ मन्मथ की निर्विवेकता-मूलक निन्दा है।

(नवीन)—

कथमसौ मदनो न नमस्यतां
स्थितविवेकपदो मकरध्वजः।
मृगदृशां कदलीललितं वपु—
र्यदभिहन्ति शरैः कुसुमोद्भवैः।

स्त्रियों के कोमल शरीर पर कोमल फूलरूपी ही शर के प्रहार करने में मन्मथ अपनी विवेकिता सूचित करता है—यह उसकी प्रशंसा है।

[और उदाहरण—कुमारसम्भव में हिमालय के वर्णन में श्लोक—

अनन्तरत्नप्रभवस्य तस्य
हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एकोऽपि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥

अर्थात् हिमालय से अनन्त रत्न उत्पन्न होते हैं—इसलिए हिम रूप दोष होते हुए भी उनके सौभाग्य में कोई हानि नहीं पहुँचाता। जैसे चन्द्रमा में यद्यपि कालिमा है तथापि यह दोष और गुणों के समूह में दब जाता है।

इसके विपरीत नवीन कवि की उक्ति है—

एकोऽपि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीन्दोरिति यो बभाषे।
तेनैव नूनं कविना न दृष्टं
दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी ॥

'एक दोष गुणसमूह में दब जाता है' यह कहनेवाले ने यह नहीं देखा कि दरिद्रता एक ऐसा दोष है जो अनेक गुण-समूह को नष्ट कर देता है।'

तीसरा उदाहरण—पत्नी अपने विदेशस्थ पति को लिखती है—

प्राणेश विज्ञप्तिरियं मदीया
तत्रैव नेया दिवसाः कियन्तः।

सम्प्रत्ययोग्यस्थितिरेष देशः
करा हिमांशोरपि तापयन्ति ॥

'हे प्राणेश मेरी विज्ञप्ति यह है कि अभी आप वहीं ठहरें—यह देश अभी रहने योग्य नहीं है—क्योंकि चन्द्रमा के भी किरण सन्तापक लगते हैं'।

इस पर पति उत्तर देता है—

'करा हिमांशोरपि तापयन्ति
नैतत् प्रिये सम्प्रति शङ्कनीयम् ।
वियोगतप्तं हृदयं मदीयं
तत्र स्थिता त्वं परितापिताऽसि ॥

'हे प्रिये यह शंका मत करो कि चन्द्रमा के किरण सन्तापक हैं—बात यह है कि तेरे वियोग से मेरा हृदय सन्तप्त हो रहा है—और उसी हृदय में तुम बैठी हो—इसी से तुम मेरे हृदय के ताप से तपाई जा रही हो'।]

(२) 'प्रतिकञ्चुक'—एक तरह के वस्तु को दूसरी तरह का बनाकर वर्णन करना।

(३) 'वस्तुसञ्चार'—एक उपमान को दूसरे उपमान में बदल देना।

(४) 'धातुवाद'—शब्दालंकार को अर्थालंकार बना देना।

(५) 'सत्कार'—एक ही वस्तु को उत्कृष्ट रूप में बदल देना।

(६) 'जीवञ्जीवक'—पहले जो सदृश था उसे असदृश कर देना।

(७) 'भावमुद्रा'—प्राचीन उक्ति का आशय लेकर प्रबन्ध लिखना।

(८) 'तद्विरोधी'—प्राचीन उक्ति के विरुद्ध उक्ति।

ये ३४ अर्थहरण के प्रकार हैं।

(४)

काव्यों में कुछ ऐसी बातें आती हैं जो न शास्त्रीय हैं न लौकिक किन्तु अनादि काल से कवि इनका व्यवहार करते आये हैं। ये 'कविसमय', Poetical Convention, के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये बातें एकदम अशास्त्रीय हैं वा अलौकिक हैं यह सहसा कह देना कठिन है — जब हम इनको अनादि काल से व्यवहृत पाते हैं। शास्त्र अनन्त हैं— देश अनन्त हैं—लोकानुभव भी अनन्त हैं। फिर यह कहने का साहस किसको हो सकता है कि यह बात शास्त्रों में कहीं नहीं है—या ऐसा अनुभव कभी किसी का नहीं हुआ? इसी विचार से इन कवि-समयों का प्रयोग दुष्ट नहीं समझा जाता।

ये कवि-समय तीन प्रकार के हैं—स्वर्ग्य, भौम, पातालीय। इन तीनों में भौम प्रधान है। ये तीनों प्रत्येक तीन प्रकार के होते हैं— असत् बात का कहना, सत् का नहीं कहना, अनियत को नियत करना।

(१) भौम—असत् बात का कहना। नदी में कमल का वर्णन (बहता जल में कमल नहीं होता)—जलाशय-मात्र में हंस का वर्णन (हंस केवल मानसरोवर में रहते हैं)—सभी पर्वतों में सोना रत्न इत्यादि की उत्पत्ति का वर्णन (असल में सब पर्वतों में ये सब चीज़ें उत्पन्न नहीं होतीं) स्त्री के कमर को 'मुष्टिग्राह्य', मुट्ठी भर, वर्णन करना—अन्धकार को 'सूचीभेद्य', सूई से छेदने के लायक, बतलाना— चक्रवाकों की जोड़ी रात को अलग रहती है, चकोर चन्द्रकिरणों को पीता है। इत्यादि

(२) भौम—सत् का नहीं कहना। वसन्त ऋतु में मालती का वर्णन नहीं करना—चन्दन वृक्ष के फूलों का वर्णन नहीं करना— अशोक वृक्ष के फलों का वर्णन नहीं करना—यद्यपि कृष्णपक्ष भर में चाँदनी उतने ही घंटों तक रहती जितना शुक्लपक्ष में तथापि कृष्णपक्ष

में चाँदनी का वर्णन नहीं करना—उसी तरह शुक्लपक्ष में अन्धकार का वर्णन नहीं करना—दिन में नील कमल के विकास का वर्णन नहीं करना—शेफालिका (हरसिंगार) फूल का रात्रि समय के कारण वृक्ष से नहीं गिरने का वर्णन।

(३) भौम—अनियत को नियत करना। मगर यद्यपि सभी बड़े जलाशयों में पाये जाते हैं तथापि केवल गंगा में इनका वर्णन करना—मोती यद्यपि अनेक जलाशयों में मिलता है तथापि केवल ताम्रपर्णी नदी में इसका वर्णन करना—चन्दन-वृक्ष यद्यपि सर्वत्र हो सकते हैं तथापि मलयपर्वत ही में इनका वर्णन करना भूर्जपत्र यद्यपि अनेक उच्च पर्वतों में मिलता है तथापि केवल हिमालय में इसका वर्णन करना—कोकिल की कूक यद्यपि ग्रीष्मादि ऋतु में भी सुन पड़ती है तथापि केवल वसन्त में इसका वर्णन करना—मयूर यद्यपि और समयों में भी नाचते गाते हैं तथापि वर्षा ही में इनका वर्णन करना।

[ऐसे ही कवि-समयों का एक यह संग्राहक श्लोक प्रसिद्ध है—

स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियङ्गुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्
पादाघातादशोकस्तिलककुरवकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम्।
मन्दारो नर्मवाक्यात्पटुमधुहसनाच्चम्पको वक्त्रवातात्
चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति हि पुरोनर्तनात् कर्णिकारः॥

अर्थात्—प्रियंगु स्त्रियों के छूने से फूलता है, बकुल स्त्रियों के मुख से दिये हुए मद्य के छींटे से, अशोक उनके पैर के आघात से, तिलक उनके ताकने से, कुरवक उनके आलिङ्गन से, मन्दार उनके मधुर वचन से, चम्पक उनके कोमल हँसी से, आम उनके मुखवायु से, नमेरु उनके गीत से, कर्णिकार उनके नाचने से]

ये हुए द्रव्यों के प्रसंग कवि-समय। गुणों के प्रसंग कवि-समय यों हैं—

(१) असत् गुण का वर्णन। पुण्य, यश और हास को श्वेत कहना, अयश और पाप को काला—क्रोध, अनुराग इत्यादि को लाल।

(२) सत् गुण का नहीं कहना। कुन्द फूल की कलियाँ यद्यपि लाल-सी होती हैं तथापि इनकी लालिमा का वर्णन नहीं करना—कमल की कली यद्यपि हरी होती है तथापि इस हरियाली का वर्णन नहीं करना।

(३) अनियत गुण को नियत करना - सामान्यत: मणियों को लाल कहना, फूलों को श्वेत, मेघ को काला। यद्यपि मणि और फूल नाना रंग के होते हैं और मेघ भी सभी काले नहीं होते।

इनके अतिरिक्त और कई तरह के कवि-समय भी हैं। कृष्ण-नील को एक कहना, इसी तरह कृष्ण-हरित को, कृष्ण-श्याम को, पीत-रक्त को, शुक्ल-गौर को। फिर नेत्रादि को नाना वर्ण करके वर्णन करना। आँखों के वर्णन में कहीं शुक्लता, कहीं कृष्णता, कहीं मिश्रवर्ण का वर्णन पाया जाता है।

स्वर्गीय विषयक कवि-समय ये हैं। (१) चन्द्रमा के वर्णन में शश और हरिण को एक करना। (२) कामदेव के चिह्न में मगर और मत्स्य को एक करना। (३) 'अत्रिनेत्रसमुत्पन्न' और 'चन्द्र' को समानार्थ करना। (४) शिवभालस्थचन्द्रमा की उत्पत्ति हुए हज़ारों वर्ष हुए तथापि उनका वर्णन 'बाल' (बच्चा) ही करके होता है। (५) काम है इच्छाविशेष, इसे शरीर नहीं है, तथापि इसके शरीर धनुष, तीर इत्यादि का वर्णन। (६) सूर्य है १२, पर वर्णन एक ही करके होता है। (७) 'लक्ष्मी'—'सम्पत्' तुल्यार्थ समझे जाते हैं।

पातालीय विषयक कविसमय—(१) नाग और सर्प को एक मानना। (२) दैत्य, दानव, असुर यद्यपि भिन्न हैं तथापि एक मान

पर ही वर्णित होते हैं। यथार्थ में हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद, विरोचन, बाण इत्यादि दैत्य थे। विप्रचित्ति, शम्बर, नमुचि, पुलोम, इत्यादि 'दानव' थे—और बल, वृत्र, विचुरस्त, वृषपर्व इत्यादि 'असुर' थे।

(५)

कवि को देश, काल के विभागों का ज्ञान आवश्यक है।

समस्त जगत् को—और जगत् के भाग को भी—'देश' कहते हैं।

'जगत्' किसे कहते हैं—इसके प्रसंग में नाना मत हैं-(१) स्वर्ग और पृथिवी दोनों मिलकर 'जगत्' है। (२) स्वर्ग एक 'जगत्' है पृथिवी दूसरा 'जगत्'। (३) जगत् तीन हैं, स्वर्ग, मर्त्य, पाताल। इन्हीं के नाम 'भू' 'भुव', 'स्व', भी हैं। (४) जगत् सात हैं, भू, भुव, स्व, मह, जन, तप, सत्य। (५) ये सात और ये ही सात वायुमंडल के—यों १४ 'जगत्' हैं। (६) ये १४ सात पातालों के साथ २१ 'जगत्' हैं।

इनमें पृथिवी 'भू' लोक है। इसमें सात महाद्वीप हैं, सबके बीच में (१) जम्बूद्वीप, उसको घेरे हुए क्रम से-(२) प्लक्ष, (३) शाल्मल, (४) कुश, (५) क्रौंच, (६) शाक, (७) पुष्कर।

समुद्र ७ हैं-(१) लवण, (२) रस, (३) सुरोदक, (४) घृत, (५) दधि, (६) जल, (७) दुग्ध। कुछ लोगों का सिद्धान्त है कि लवण ही एक-मात्र समुद्र है। और लोगों के मत से ३, किसी के मत से ४।

जम्बूद्वीप के मध्य में मेरु-पर्वत है—यह सब ओषधियों का निधान है—यहीं सब देवता रहते हैं। यही मेरु पहला वर्षपर्वत है। मेरु की

चारों ओर इलावृतवर्ष है। मेरु के उत्तर में नील, श्वेत शृंगवान् ये तीन वर्षगिरि हैं। इनसे क्रमश: सम्बद्ध तीन 'वर्ष' हैं - रम्यक, हिरण्मय, उत्तरकुरु। मेरु के दक्षिण में भी तीन वर्षगिरि हैं—निषध, हेमकूट, हिमवान्। इनसे क्रमश: सम्बद्ध तीन वर्ष हैं—हरि, किम्पुरुष, भारत। यह हमारा देश भारतवर्ष है। इसके ९ प्रदेश हैं—इन्द्रद्वीप, कसेरुमान्, ताम्रपर्णी, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व, वरुण, कुमारीद्वीप।

दक्षिण समुद्र से लेकर हिमालय तक १,००० योजन होता है। इसे जो जीते वह 'सम्राट्' कहलायेगा। कुमारीपुर से विन्दुसर-पर्यन्त १,००० योजन को जीतने से 'चक्रवर्ती' कहलायेगा।

कुमारीद्वीप के सात पर्वत हैं—विन्ध्य, पारियात्र, शुक्तिमान्, ऋत्त, महेन्द्र, सह्य, मलय।

पूर्व समुद्र और पश्चिम समुद्र के बीच में, हिमालय—विन्ध्य के बीच में, आर्यावर्त है।

इसी देश में चार वर्णों की और चार आश्रमों की व्यवस्था है, तन्मूलक ही सदाचार भी। प्राय: यहाँ के जो व्यवहार हैं वही कवियों का होना चाहिए॥

काशी के पूर्व का भाग 'पूर्व देश' है। इसमें इतने जनपद हैं—अंग, कलिंग, कोसल (?), तोसल, मगध, मुद्गर, विदेह, नेपाल, पुण्ड्र, प्राग्ज्योतिष, ताम्रलिप्तक, मलद, मल्लवर्तक, सुह्म, ब्रह्मोत्तर इत्यादि। [यहाँ 'कोसल' का नाम लेखप्रमाद से अन्तर्गत होगया है, किसी भी प्रमाण के अनुसार कोसल देश काशी के पूरब में नहीं माना गया है। इन नामों में कुछ ऐसे हैं जिनके नाम आज कल भी परिचित मालूम होते हैं परन्तु इसी के बल से दोनों को एक मान लेने में भ्रम की सम्भावना है। जैसे

मुद्गर (मुंगेर), ताम्रलिप्तक (तामलूक), मलद (मालदह), मल्लवर्तक (मालवा), ब्रह्मोत्तर (ब्रह्मपुत्रप्रान्त) ।]—इस प्रान्त के पर्वत हैं—बृहद्गृह, लोहितगिरि, चकोर, दर्दुर, नैपाल, कामरूप इत्यादि । शोण, लौहित्य दो नद हैं । गंगा, करतोया, कपिशा इत्यादि नदियाँ । लवली, ग्रन्थिपर्णक, अगरु, द्राक्षा, कस्तूरिका यहाँ उत्पन्न होते हैं ।

माहिष्मती (मंडला) से दक्षिण का देश दक्षिणापथ (Deccan) है । इसके अन्तर्गत ये जनपद हैं- महाराष्ट्र, माहिषक, अश्मक, विदर्भ, कुन्तल, क्रथकैशिक, सूर्पारक, कांची, केरल, कावेर, मुरल, वानवासक, सिंहल, चोल, दंडक, पांड्य, पल्लव, गांग, नाशिक्य, कोंकण, कोल्लगिरि, वल्लर इत्यादि । यहाँ के पर्वत हैं—विन्ध्य का दक्षिण भाग, महेन्द्र, मलय, मेकल, पाल, मंजर, सह्य, श्रीपर्वत इत्यादि । नदियाँ—नर्मदा, तापी, पयोष्णी, गोदावरी, कावेरी, भैमरथी, वेणा, कृष्णवेणा, वञ्जुरा, तुंगभद्रा, ताम्रपर्णी, उत्पलावती, रावणगंगा इत्यादि ।

देवसभा के पश्चिम 'पाश्चात्यदेश' है । इसके जनपद हैं—देवसभ, सुराष्ट्र, दशेरक, त्रवण, भृगुगच्छ, कच्छीय, आनर्त, अर्बुद, ब्राह्मणवाह, यवन इत्यादि । नदियाँ—सरस्वती, श्वभ्रवती, वार्तघ्नी, मही, हिडिम्बा इत्यादि । करीर, पीलु, गुग्गुल, खर्जूर, करभ यहाँ उत्पन्न होते हैं ।

पर्वत यहाँ के—गोवर्धन, गिरनार, देवसम, माल्यशिखर, अर्बुद इत्यादि ।

पृथूदक के उत्तर 'उत्तरदेश' है । इसके जनपद हैं—शक, केकय, वोकाण, हूण, बाणायुज, काम्बोज, बाह्लीक, वह्लव, लिम्पाक, कुलूत, कीर, तंगण, तुषार, तुरुष्क, बर्बर, हरहूव, हूहुक, सहुड, हंसमार्ग, रमठ, करकंठ इत्यादि । पर्वत—हिमालय, कलिन्द, इन्द्रकील,

चन्द्राचल इत्यादि। नदियाँ—गंगा, सिन्धु, सरस्वती, शतद्रु, चन्द्रभागा, यमुना, इरावती, वितस्ता, विपाशा, कुहू, देविका इत्यादि। यहाँ उत्पन्न होते हैं—सरल, देवदारु, द्राक्षा, कुंकुम, चमर, अजिन, सौवीर स्रोतोंजन, सैन्धव, वैदूर्य, तुरंग इत्यादि।

इन सभों के बीच में, अर्थात् काशी से पश्चिम, माहिष्मती से उत्तर, देवसभा से पूरब, और पृथूदक से दक्षिण, जो देश है उसे 'मध्यदेश' कहते हैं। ऐसा कवियों का व्यवहार है। शास्त्र के अनुसार ही यह व्यवहार मालूम होता है। क्योंकि मनुस्मृति में लिखा है—

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये यत् प्राग् विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥

विनशन (कुरुक्षेत्र) और प्रयाग—गङ्गा, यमुना—के बीच का देश 'अन्तर्वेदि' है। इसी को केन्द्र मान कर दिशाओं का विभाग करना ऐसा आचार्यों का सिद्धान्त है। इसमें भी विशेष करके महोदय को केन्द्र मानना। इसके प्रसंग कई तरह के मत हैं। पौराणिक मत है—इन्द्र देवता से अधिष्ठित दिशा 'पूर्व', अग्नि देवता की आग्नेय, यम की 'दक्षिण', निर्ऋति की 'नैर्ऋत्य', वरुण की 'पश्चिम', वायु की 'वायव्य', कुबेर की 'उत्तर', ईशान की 'ऐशान', ब्रह्मा की 'ऊर्ध्व', नाग की 'अधः'। वैज्ञानिक सिद्धान्त में ताराओं के अनुसार यों है—चित्रा, स्वाती के बीच 'पूर्व', उसके सामने (पश्चिम), ध्रुव तारा की ओर 'उत्तर', उसके सामने 'दक्षिण'। इनके बीच में अवान्तर दिशाएँ हैं। कवियों में ये सब व्यवहृत हैं।

जिस देश की जैसी स्थिति, पर्वत, नदी इत्यादि हैं वैसा ही वर्णन करना उचित है।

भिन्न भिन्न देशवासियों के शरीर के रंग के प्रसंग में राजशेखर-सिद्धान्त यों है—

पूर्वदेशवासी 'श्याम', दक्षिणदेशवासी 'कृष्ण', पश्चिमदेशवासी 'पांडु', उत्तरदेशवासी 'गौर'। मध्यदेशवासियों में तीनों पाये जाते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि कवियों के व्यवहार में 'कृष्ण' और 'श्याम' तथा 'पांडु' और 'गौर' में भेद नहीं किया जाता है।

यह वर्ण का नियम केवल आपाततः कहा गया है। क्योंकि पूर्व-देशवासी सभी काले नहीं होते। यहाँ की राजकन्या इत्यादि का वर्ण 'पांडु' या 'गौर' पाया जाता है। ऐसा ही दक्षिण देश में भी।

(६)

देश-विभाग की तरह काल-विभाग का भी ज्ञान आवश्यक है।

१५ निमेष की 'काष्ठा'

३० काष्ठा की 'कला'

३० कला का 'मुहूर्त'

३० मुहूर्त की 'अहोरात्र' (दिन रात)

यह हिसाब चैत्र और आश्विनमास का है (जब रात दिन बराबर होते हैं)। चैत्र के बाद तीन महीने तक प्रतिमास एक मुहूर्त करके दिन की वृद्धि होती है और रात का ह्रास। फिर उसके बाद तीन मास तक प्रतिमास एक मुहूर्त रात की वृद्धि, दिन की हानि होती है। इस तरह आश्विन में जाकर रात दिन बराबर हो जाते हैं। आश्विन के बाद तीन महीने तक प्रतिमास एक मुहूर्त दिन का ह्रास रात की वृद्धि। उसके बाद तीन मास तक रात्रि का ह्रास दिन की वृद्धि। इस तरह चैत्र में फिर रात दिन बराबर हो जाते हैं।

जितने काल में सूर्य एक राशि से दूसरे राशि में जाता है उतने काल को 'मास' कहते हैं। वर्षा ऋतु से छः महीने 'दक्षिणायन'

(सूर्य दक्षिण की ओर) रहते हैं, और शिशिर ऋतु से छः महीने 'उत्तरायण'। दो अयनों का 'संवत्सर' (वर्ष)—यह काल का मान 'सौर' (सूर्य के अनुसार) कहलाता है। १५ अहोरात्र का 'पक्ष'। जिस पक्ष में चन्द्रमंडल प्रतिदिन बढ़ता है उसे 'शुक्लपक्ष', जिसमें घटता है उसे 'कृष्णपक्ष' कहते हैं। दोनों पक्षों का एक 'मास' जिसके आदि में शुक्लपक्ष पीछे कृष्णपक्ष होता है। यह मान 'पित्र्य' कहलाता है। वैदिक क्रियाएँ सब इसी मान के अनुसार होती हैं। 'पित्र्य' मास के पक्षों का व्यत्यास कर देने से 'चान्द्र' मास होता है, जिसके आदि में कृष्णपक्ष पीछे शुक्लपक्ष होता है। आर्यावर्त के वासी और कवि इसी चान्द्रमास का अवलम्बन करते हैं। ऐसे दो पक्षों का 'मास', दो मासों का 'ऋतु', छः ऋतुओं का 'संवत्सर'। संवत्सर चैत्र मास से आरम्भ होता है ऐसा ज्योतिषियों का सिद्धान्त है, श्रावण से आरम्भ होता है ऐसा लोकव्यवहार प्रसिद्ध है। नभ-नभस्य (श्रावण- भादों) वर्षा-ऋतु। इष-ऊर्ज (आश्विन-कार्तिक) शरत्। सह-सहस्य (अगहन-पूस) हेमन्त। तप-तपस्य (माघ-फाल्गुन) शिशिर। मधु-माधव (चैत-वैशाख) वसन्त। शुक्र-शुचि (जेठ-असाढ़) ग्रीष्म।

वर्षा-ऋतु में पूर्वीय हवा बहती है, ऐसी कवि प्रसिद्धि है। वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं भी हो तथापि वर्णन ऐसा ही होना चाहिए। शरत् ऋतु में किधर की वायु होगी सो नियमित नहीं है। हेमन्त में पश्चिम वायु—ऐसा कुछ लोगों का सिद्धान्त है। कुछ लोग 'उत्तर' कहते हैं। असल में दोनों ठीक है। शिशिर में भी हेमन्त की तरह पश्चिम वा उत्तर, वसन्त में दक्षिण वायु बहती है। वसन्त में वायु का नियम नहीं है ऐसा कुछ लोग कहते हैं। कुछ लोग 'नैर्ऋत' बतलाते हैं।

ऋतुओं के वर्णन में इनकी चार अवस्थाओं का वर्णन उचित है। ये अवस्थाएँ हैं—सन्धि, शैशव, प्रौढि, अनुवृत्ति। दो ऋतुओं के बीच

के समय को 'ऋतुसन्धि' कहते हैं। ['शैशव' है आरम्भ का समय, 'प्रौढि' पूर्ण परिणतावस्था का समय । एक ऋतु के बीतने पर भी जिस समय कुछ कुछ उसके चिह्न दिखाई देते हैं उसे बीते ऋतु की 'अनुवृत्ति' कहते हैं। जैसे कमल फूलने का ऋतु है ग्रीष्म— पर कभी कभी कहीं कहीं वर्षा के आने पर भी कमल फूलते देखे जाते हैं]

यह तो हुई प्राचीनों के अनुसार कवि-शिक्षा-प्रणाली। पर आज-कल के उत्साही कवियों को इससे हतोत्साह नहीं होना चाहिए। संस्कृत में १००, १५० बरस का पुराना एक ग्रन्थ है 'कविकर्प-टिका'। इसमें ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा है—

यत्नादिमां कण्ठगतां विधाय
श्रुतोपदेशाद् विदितोपदेशः ।
अज्ञातशब्दार्थविनिश्चयोऽपि
श्लोकं करोत्येव समासु शीघ्रम् ॥

अर्थात् इस ग्रन्थ को जो कण्ठस्थ कर लेगा सो शब्दार्थ को नहीं जानते हुए भी सभाओं में शीघ्र श्लोक बना सकेगा। इसका प्रकार यों है। अनुष्टुप् छन्द में चन्द्रमा का वर्णन करना है। इसके लिए बहुत से समुचित शब्दों का संग्रह है। (१) आदि के पाँच अक्षर के शब्द—'कर्पूरपूर', 'पिण्डीरपिण्ड', 'गङ्गाप्रवाह' इत्यादि। (२) तदुत्तर तीन अक्षर के शब्द—'नीकाशं', 'संकाशं,' 'संस्पर्धि' इत्यादि। (३) द्वितीयपाद में दो अक्षर के—'वपुः', 'तेजः', 'दीप्तिः' इत्यादि। (४) द्वितीयपाद में इसके बाद—'यस्य', या 'तस्य'। (५) फिर तीन अक्षर के पद—'प्रसाद्यते', 'विलोक्यते', 'प्रतीक्ष्यते' इत्यादि। (६) तृतीयपाद

में आदि के तीन अक्षर—'चन्द्रोऽयम्', । (७) फिर तृतीयपाद में पाँच अक्षर—'राजते रम्यः'; 'शोभते भद्रः' 'भासते भास्वान्' । (८) चतुर्थपाद के आदि तीन अक्षर—'नितान्तम्', 'नियतं', 'सुतराम्' । (६) चतुर्थपाद के अन्तिम पाँच अक्षर—'कामिनीप्रियः' 'जनवल्लभः', 'प्रीतिवर्धनः' ।

इतना जिसे अभ्यास रहेगा सो मनुष्य सभा में चन्द्रवर्णन के प्रस्ताव में शीघ्र ही ये तीन श्लोक पढ़कर सुना देगा ।

कर्पूरपूरनीकाशं वपुर्यस्य प्रसाद्यते ।
चन्द्रोऽयं राजते रम्यो नितान्तं कामिनीप्रियः ॥१॥
पिण्डीरपिण्डसंकाशं तेजो यस्य विलोक्यते ॥
चन्द्रोऽयं शोभते भद्रो नियतं जनवल्लभः ॥२॥
गङ्गाप्रवाहसंस्पर्धि दीप्तिर्यस्य प्रतीक्ष्यते ।
चन्द्रोऽयं भासते भास्वान् सुतरां प्रीतिवर्धनः ॥३॥

इसी तरह और लम्बे छन्दों की पदावली दी गई है ।
कवि होने का कैसा सुगम मार्ग है !

नाना शास्त्रों का ज्ञान कवि को आवश्यक होता है । इसके उदाहरण में कुछ पद्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं । जिनसे यह ज्ञात होगा कि यह आवश्यकता केवल कपोलकल्पित नहीं है, हमारे हिन्दी के भी जो मौलिक कवि होगये हैं उन्हें इन शास्त्रों का अच्छा ज्ञान था और विना ऐसे ज्ञान के वे ऐसे आदर्श-कवि नहीं होते । ये उदाहरण केवल दिङ्मात्रप्रदर्शन के लिए हैं । जितने पद्यों में ऐसे शास्त्र-ज्ञान भासित हैं उन सभों का संग्रह करना असम्भव है ।

[इन उदाहरणों के संकलन में मुझे मेरे शिष्य श्रीयुत धीरेन्द्र वर्माजी से बड़ी सहायता मिली है]।

वैद्यकपरिचय

रावन सो राजरोग बाढ़त बिराट उर,
दिन दिन विकल सकलसुखराँक सो।
नाना उपचार करि हारे सुर सिद्ध मुनि,
होत न बिसोक श्रोत पावै न मनाक सो।
राम की रजाय तें रसायनी समीरसूनु
उतरि पयोधिपार सोधि सरवाक सो।
जातुधान बुट, पुटपाक लंक जातरूप,
रतन जतन जारि किये है मृगांक सो॥

[तुलसीदास-कवितावली
उत्तरकांड २५]

रामायणपरिचय

धूर धरत नित शीश पर, कहु रहीम किहि काज।
जिह रज मुनिपत्नी तरी सो ढूँढ़त गजराज॥

[रहीम]

जैसी हो भवितव्यता तैसी बुद्धि प्रकास।
सीता हरिवै तें भयो रावणकुल कै नास॥

[वृन्द]

भारतपरिचय

जो पुरुषारथ ते कहूँ सम्पति मिलति रहीम।
पेट लागि बैराटघर तपत रसोई भीम॥

[रहीम]

छल बल समै विचारि कै अरि हनियै अनयास।
कियौ अकेले द्रोनसुत निस पांडव कुलनास ॥

[वृन्द]

द्यूतपरिचय

मन तू समझि सोच विचार।
भक्ति बिन भगवान दुर्लभ कहत निगम पुकार ॥
साध संगति डारि फासा फेरि रसना सारि।
दाव अबकें पर्यो पूरो उतरि पहिली पार ॥
वाक सत्रे सुनि अठारे पंच ही कों मारि।
दूर ते तजि तीन काने चमकि चौक विचार ॥
काम क्रोध जंजाल भूल्यो ठग्यो ठगनी नारि।
सूर हरि के पद भजन बिन चल्यो दोउ कर झार ॥

[सूरदास]

वृक्ष, पक्षी इत्यादि परिचय

तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर,
मंजुल वंजुल तिलक लकुच कुल नारिकेलवर।
एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहैं,
सारी शुक कुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहैं।
शुभ राजहंस, कलहंस कुल, नाचत मत्त मयूरगन ॥
अति प्रफुलित फलित सदा रहै केशवदास विचित्र वन ॥

[केशवदास—रामचंद्रिका]

ज्योतिषपरिचय

उदित अगस्त पंथ जल सोखा। जिमि लोभहि सोखै संतोषा ॥

[तुलसीदास-मानस]

श्रवण मकर-कुंडल लसत, मुख सुखमा एकत्र।
शशि समीप सोहत मनो श्रवण मकर नक्षत्र॥

[केशवदास—रामचंद्रिका (राम का नखशिख)]

भाल विसाल ललित लटकन वर, बालदसा के चिकुर सोहाये।
मनु दोउ गुरु सनि कुज आगे करि ससिहि मिलन तम के गन आये॥

[तुलसीदास—गीतावली]

चाणक्य (कूटनीति) परिचय

जाकी धन धरती लई ताहि न लीजे संग।
जो संग राखे ही बनै तो करि डारु अपंग॥
तौ करि डारु अपंग फेर फरकै सो न कीजै।
कपट रूप बतराय तासु को मन हर लीजै।
कह गिरिधर कविराय खुटक जै है नहि वाकी।
कोटि दिलासा देव, लई धन धरती जाकी॥

[गिरिधर कविराय]

तेरह मंडल मंडित भूतल भूपति जो क्रम ही क्रम साधै।
कैसेहु ताकहँ शत्रु न मित्र सुकेशवदास उदास न बाधै।
शत्रु समीप, परे तेहि मित्र से, तासु परे जो उदास कै जोवै।
बिग्रह संधिन दाननि सिंधु लौं लै चहुँ ओरनि तौ सुख सोवै॥

[केशवदास—रामचंद्रिका]

मोक्षोपायपरिचय

मुक्तिपुरी दरबार के, चारि चतुर प्रतिहार।
साधुन को सतसंग, सम, अरु संतोष, विचार॥

चारि में एकहु जो अपनावै।
तौ तुम पै प्रभु आवन पावै ॥

[केशवदास—रामचंद्रिका]

आत्मज्ञानपरिचय

माधव ! मोह फाँस क्यों टूटै ?
वाहिर कोटि उपाय करिय, अभ्यंतर ग्रंथि न छूटै ॥
घृत पूरन कराह अंतरगत ससि-प्रतिबिंब दिखावै।
ईंधन अनल लगाइ कलप-सत औटत, नास न पावै ॥
तरु कोटर महँ वस विहंग, तरु काटे मरै न जैसे।
साधन करिय विचार-हीन मन सुद्ध होइ नहिं जैसे ॥
अंतर मलिन, विषय मन अति तन पावन करिय पखारे।
मरै न उरग अनेक जतन वलमीक विविध विधि मारे ॥
तुलसिदास हरि-गुरु-करुना-विनु विमल विवेक न होई।
बिनु विवेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई ॥

[तुलसीदास—विनयपत्रिका]

११५.

विवेकपरिचय

दुख में सुमिरन सव करै, सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करै, तो दुख काहे होय।
नाम भजो तो अब भजो, बहुरि भजोगे कव्व।
हरियर हरियर रूखड़े, ईंधन हो गये सव्व ॥

[कबीर—साखी]

कितक दिन हरि सुमिरन बिनु खोये ।
पर निंदा रस में रसना के अपने परत डबोये ॥
तेल लगाइ कियो रुचि मर्दन वस्त्रहिं मलि मलि धोये ।
तिलक लगाइ चले स्वामी बनि बिषयनि के मुख जोये ॥
कालबली ते सब जग कंपत ब्रह्मादिकहू रोये ।
'सूर' अधम की कहौ कौन गति उदर भरे परि सोये ॥

[सूरदास]

धनुर्वेदपरिचय

सूरज मुसल, नील पहारी, परिघ नील,
जामवंत असि, हनू तोमर प्रहारे हैं ।
परशा सुखेन, कुंत केशरी, गवय शूल,
विभीषण गदा, गज भिंदिपाल तारे हैं ।
मोगरा द्विविद, तीर कटरा, कुमुद नेजा,
अंगदशिला, गवाक्ष विटप विदारे हैं ।
अंकुश शरभ, चक्र दधिमुख, शेष शक्ति,
बाण तिन रावण श्रीरामचंद्र मारे हैं ॥

[केशवदास—रामचंद्रिका]

देशपरिचय

राज राज दिगबाम, भाल लाल लोभी सदा ।
अति प्रसिद्ध जग नाम, काशमीर को तिलक यह ॥

[केशव—रामचंद्रिका]

आछे आछे असन, बसन, वसु, वासु, पशु,
दान, सनमान, यान, वाहन बखानिये ।
लोग, भोग, योग, भाग, बाग, राग, रूपयुत
भूषननि भूषित सुभाषा सुख जानिये ।
सातो पुरी तीरथ, सरित, सब गंगादिक,
केशोदास पूरण पुराण, गुन गानिये ।
गोपाचल ऐसे गढ़, राजा रामसिंह जूसे
देशनि की मणि, महि मध्यदेश मानिये ।।

[केशव—कविप्रिया]

हय-गज-लक्षणपरिचय

तरल, तताई, तेजगति, मुख सुख, लघु दिन देखि ।
देश, सुवेश, सुलच्छणै, वरनहु बाजि विशेखि ।।
मत्त, महाउत हाथ में, मंद चलनि, चलकर्ण ।
मुक्तामय, इभ, कुंभ शुभ, सुंदर, शूर, सुवर्ण ।।

[केशव—कविप्रिया]

योगपरिचय

हमरे कौन जोग व्रत साधै ?
मृगत्वच, भस्म, अधारि, जटा को, को इतनो अवराधै ?
जाकी कहूँ थाह नहिं पैये अगम अपार, अगाधै ।
गिरिधरलाल छबीले मुख पर इते बाँध को बाँधै ?
आसन, पवन, विभूति, मृगछाला, ध्याननि को अवराधै ?
सूरदास मानिक परिहरि कै राख गाँठि को बाँधै ?

संगीतपरिचय

अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल ।
काम क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल ।।

महामोह के नूपुर बाजत, निंदा शब्द रसाल ।
भरम भर्यो मन भयो पखावज, चलत कुसंगति चाल ।।
तृस्ना नाद करत घट भीतर नाना विधि दै ताल ।
माया को कटि फेंटा बाँध्यो, लोभ तिलक दै भाल ।।
कोटिक कला कांछि देखराई, जल थल सुधि नहिं काल ।
सूरदास की सबै अविद्या, दूरि करौ नंदलाल ।।

क्षेमेन्द्र ही का एक और ग्रन्थ बड़े चमत्कार का है, 'औचित्य-विचारचर्चा' । इसमें एक एक पद्य उदाहरण देकर दिखलाया है कि रचना में कवि को कितनी सावधानता अपेक्षित है । और इस सावधानता से सामान्य वाक्यों में भी कैसी सरसता --और थोड़ी ही असावधानता से कैसी विरसता—आ जाती है । इनके कुछ उदाहरणार्थ हिन्दी-कवियों के कुछ पद्य उद्धृत किये जाते हैं ।

गुण—औचित्य

(परशुरामगर्वोक्ति—ओज')

भूपमंडली प्रचंड चंडीस-कोदंड खंड्यौ
चंड बाहुदंड जाको ताही सों कहतु हौं ।
कठिन कुठार धार धारिबे की धीरताहि,
वीरता विदित ताकी देखिए चहतु हौं ।
तुलसी समाज राज तजि सो विराजै आजु,
गाज्यो मृगराज गजराज ज्यों गहतु हौं
छोनी में न छाँड्यो छप्यौ छोनिप को छौ ना छोटो,
छोनिप-छपन बाँको विरुद बहतु हौं ।।

[तुलसीदास—कवितावली]

(माधुर्य—प्रसाद)

नूपुर कंकन किंकिन करतल मंजुल मुरली
ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली।
मृदुल मधुर टंकार, ताल झंकार मिली धुनि,
मधुर जंत्र की तार भँवर गुंजार रली पुनि।
तैसिय मृदुपद पटकनि चटकनि कर तारन की,
लटकनि मटकनि झलकनि कल कुंडल हारन की।
साँवरे पिय के संग नृतत यों ब्रज की वाला,
जनु घन-मंडल-मंजुल खेलति दामिनिमाला॥

[नंददास—रासपंचाध्यायी]

पद—औचित्य

सीस-मुकुट, कटि काछिनी, कर-मुरली उरमाल।
इहिं वानक मो मन सदा, बसौ **बिहारीलाल**॥

[बिहारी-सतसई]

इस वर्णन के लिए कृष्ण के नामों में 'बिहारीलाल' नाम सबसे अधिक उपयुक्त है।

करौ कुवत जगु, कुटिलता तजों न दीन दयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय बसत, **त्रिभंगीलाल**॥

[बिहारी-सतसई]

इस वर्णन के लिए 'त्रिभङ्गीलाल' नाम ही उचित है। कोई दूसरा नाम रखने से भाव नष्ट हो जायगा।

पद—अनौचित्य

सिद्ध सिरोमणि **संकर** सृष्टि संहारत साधु समूह भरी है

[केशव-कविप्रिया]

यहाँ संहार के वर्णन में 'संकर' पद का प्रयोग उचित नहीं है।

अलंकार—औचित्य

अलि नवरंगजेब, चम्पा सिवराज है।

[भूषण—शिवाबावनी]

इन रूपकों का प्रयोग अत्यन्त उचित हुआ है। औरंगज़ेब शिवाजी के पास नहीं जाता यह भाव अलंकार से स्पष्ट हो जाता है।

राधे सोने की अँगूठी, स्याम नीलम नगीना है।

[अज्ञात]

रस—औचित्य

(रौद्र वर्णन में हास्य की सहायता)

निपट निदरि बोले वचन कुठारपानि,
मानि त्रास औनिपन मानौ मौनता गही।
रोपे मापे लषन अकनि अनखौहीं बातैं,
तुलसी बिनीत बानी बिहँसि ऐसी कही।
"सुजस तिहारो भरो भुवननि, भृगुनाथ!
प्रगट प्रताप आपु कहौ सो सबै सही।
टूट्यौ सो न जुरैगो सरासन महेसजी को,
रावरी पिनाक में सरीकता कहा रही?"

[तुलसीदास—कवितावली]

रस—अनौचित्य

(वनवास के करुण वर्णन तथा आश्रमों के शांत वातावरण में निम्नलिखित हास्य-रस उचित नहीं मालूम होता)

बिंध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा, बिनु नारि दुखारी।
गौतम तीय तरी, तुलसी, सो कथा सुनि भे मुनिबृंद सुखारी।

ह्वै हैं सिला सव चंद्रमुखी परसे पद-मंजुल-कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगुधारे॥

[तुलसीदास—कवितावली]

देश—औचित्य

सकल जन्तु अविरुद्ध, जहाँ हरि मृग संग चरहीं,
काम क्रोध मद लोभ रहित लीला अनुसरहीं।
सव ऋतु सन्त वसन्त कृष्ण अवलोकन लोभा,
त्रिभुवन कानन जा विभूति करि सोभित सोभा।
श्रीअनन्त महिमा अनन्द को वरनि सकै कवि,
संकरषन सो कछुक कही श्रीमुख जाकी छवि।
देवन में श्रीरमारमण नारायण प्रभु जस,
कानन में श्रीवृन्दावन सव दिन सोभित अस।

[नन्ददास—रासपंचाध्यायी]

कृष्ण की रासलीला के स्थल वृन्दावन का यह वर्णन उपयुक्त है।

वेई सुर-तरु प्रफुलित फुलवारिन मैं
वेई सरवर हंस वोलन मिलन को।
वेई हेम-हिरन दिसान दहली जन मैं
वेई गजराज हय गरज-पिलन को।
द्वार द्वार छरी लिये द्वार पौरिया हैं खरे,
वोलत मरोर वरजोर त्यों भिलन को।
द्वारिका तें चल्यो भूलि द्वारका ही आयो नाथ
माँगियो न मो पै चारि चाउर गिलन को॥

[नरोत्तमदास—सुदामाचरित्र]

नोट—सुदामापुरी का द्वारिकापुरी के समान यह वर्णन उपयुक्त है।

देश—अनौचित्य

मरु सुदेश मोहन महा, देखहु सकल सभाग।
अमल कमल कुल कलित जहँ, पूरण सलिल तड़ाग॥

[केशवदास द्वारा दोष का उदाहरण]

निपात—औचित्य

चितु दै देखि चकोर त्यों, तीजैं भजै न भूख।
चिनगी चुगै अँगार की, चुगै कि चन्द्रमयूख॥

[बिहारी-सतसई]

यहाँ 'कि' का उपयोग उचित हुआ है।

निपात—अनौचित्य

राम राम जब कोप कर्‌यो जू
लोक लोक भय भूरि भर्‌यो जू।
वामदेव तब आपुन आये
रामदेव दोऊ समुझाये॥

[केशव-रामचंद्रिका]

यहाँ 'जू' का प्रयोग केवल छन्द की पूर्ति के लिए हुआ है।

काल—औचित्य

कोउ कहै अहो स्याम चहत मारन जो ऐसे,
गिरि गोवरधन धारि करी रच्छा तुम कैसे ?
व्याल, अनल, विष ज्वाल ते राखि लई सब ठौर,
अब बिरहानल दहत हौ हँसि हँसि नन्दकिसोर
चोरि चित लै गये।

नन्ददास—भ्रमरगीत]

कृष्ण के वियोग में उद्धव के सन्मुख गोपियों के इस वचन में भूत तथा वर्तमान काल का प्रयोग उचित हुआ है।

काल-विरोध दोष इस काल से भिन्न प्रकार का है। केशव ने कविप्रिया में इसका उदाहरण निम्नलिखित दिया है :—

प्रफुलित नव नीरज रजनि, वासर कुमुद विशास।
कोकिल शरद, मयूर मधु, बरपा मुदित मराल॥

विशेषण—औचित्य

यों रहीम सुख होत है, बढ़त देखि निज गोत।
ज्यों **बड़री** अँखिया निरखि, आँखिन को सुख होत॥

[रहीम]

यहाँ 'बड़री' विशेषण से विशेष सौंदर्य आगया है।

लोक परलोक हूँ, तिलोक न विलोकियत
तो सो समरथ चष चारिहूँ निहारिए।
कर्मकाल, लोकपाल, अग जग जीवजाल,
नाथ हाथ सब, निज महिमा विचारिए।
खास दास रावरो, निवास तेरो तासु उर
तुलसी सो, देव ! दुखी देखियत भारिए।
वाहु तरुमूल, वाहुसूल **कपिकच्छु** बेलि
उपजी, सकेलि, कपि, खेलही उखारिये॥

[तुलसीदास—हनुमानवाहुक]

तुलसीदास के बगल में बड़ी पीड़ा है। हनुमान् से उसे दूर करने की प्रार्थना कर रहे हैं। पीड़ा की तुलना 'कपिकच्छुवेल' से

करना अत्यन्त उपयुक्त है क्योंकि कहा जाता है कि इस विशेष बेल को बन्दर देखते ही उखाड़ डालता है। अतः 'बेल' के साथ 'कपिकच्छु' विशेषण उपयुक्त है।

इस कवित्त की अन्तिम पंक्ति में **कपि** शब्द का प्रयोग भी सार्थक है।

शब्द-सूची ।